VRIDHAVASTHA VIMARSH: ‘REHAN PAR RAGGHU’ AUR ‘BAGHBAN’ FILM KE VISHESH SANDARBH MEIN

A Dissertation submitted to the University of Hyderabad in partial fulfilment of the degree of

MASTER OF PHILOSOPHY

In

HINDI

By

Rahul Verma

Supervisor

PROF. ALOK PANDEY

Department of Hindi

School of Humanities

University of Hyderabad

Hyderabad- 500 046

Telangana

India

वृद्धावस्था विमर्श: ‘रेहन पर रग्घू’ और ‘बाग़बान’ फिल्म के विशेष संदर्भ में

हैदराबाद विश्वविद्यालय की एम.फिल (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत
लघु शोध प्रबंध

2022

शोधार्थी

राहुल वर्मा

20HHHL11

शोध-निर्देशक

प्रो. आलोक पाण्डेय

हिंदी विभाग, मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद- 500046

तेलंगाना

भारत

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation entitled **"VRIDHAVASTHA VIMARSH: 'REHAN PAR RAGGHU' AUR 'BAGHBAN' FILM KE VISHESH SANDARBH MEIN"** (वृद्धावस्था विमर्श: 'रेहन पर रग्घू' और 'बाग़बान' फिल्म के विशेष संदर्भ में) submitted by Rahul Verma bearing Registration number-20HHHL11 in partial fulfilment the requirements for the award of Master of Philosophy in HINDI is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

As far as I know the thesis has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor

PROF. ALOK PANDEY

Head of the Department

PROF. GAJENDRA KUMAR PATHAK

Dean of the School

PROF. V. KRISHNA

DECLARATION

I, Rahul Verma hereby declare that this Dissertation entitled **"VRIDHAVASTHA VIMARSH: 'REHAN PAR RAGGHU' AUR 'BAGHBAN' FILM KE VISHESH SANDARBH MEIN"** (वृद्धावस्था विमर्श: 'रेहन पर रग्घू' और 'बाग़बान' फिल्म के विशेष संदर्भ में) submitted by me under the guidance and supervision of professor Alok Pandey is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Student

Date:

Registration no.-20HHHL11

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
भूमिका	i-v
प्रथम अध्याय: वृद्धावस्था विमर्श	१-३०
अ. मानसिक परिवर्तन	
ब. परनिर्भरता	
स. मूल्य परिवर्तन	
द. पुनर्वास	
द्वितीय अध्याय: साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध	३१-५०
तृतीय अध्याय: 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास और 'बाग़वान' फिल्म में वृद्धावस्था विमर्श	५१-१११
क. 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में वृद्धावस्था विमर्श	
अ. पारिवारिक समस्या	
ब. सामाजिक समस्या	
स. आर्थिक समस्या	
द. शारीरिक एवं मानसिक समस्या	
ख. 'बाग़बान फिल्म' में वृद्धावस्था विमर्श	
अ. पारिवारिक समस्या	
ब. सामाजिक समस्या	
स. आर्थिक समस्या	
द. शारीरिक एवं मानसिक समस्या	

उपसंहार ११२-११७

संदर्भ ग्रन्थ-सूची ११८-१२२

आधार ग्रन्थ

सहायक ग्रथ

कोश

पत्र-पत्रिकाएँ

वेब लिंक

परिशिष्ट १२३-१२८

भूमिका

प्राचीन काल से साहित्य समाज का पथ-प्रदर्शक रहा है। साहित्य कभी समाज को प्रेरणा देने का काम करता है, तो कभी समाज का यथार्थ रूप दिखाकर समाज को सही मार्ग पर लाने का प्रयास करता है। साहित्यकार जिस समाज में रहता है उस समाज की सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों से परिचित रहता है। समाज में जब किसी वर्ग अथवा जाति के साथ अन्याय होता है तो साहित्यकार अपनी साहित्यिक रचनाओं की प्रखर गूँज से उस अन्याय का विरोध करता है जो एक साहित्यकार का कर्तव्य और दायित्व है।

जब हम साहित्य में विमर्श की बात करते है तो स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श, किन्नर विमर्श, विकलांग विमर्श और वृद्ध विमर्श जैसे अनेकानेक शब्द हमारे मस्तिष्क और जुबान पर उभरकर आ जाते है। साहित्य में विमर्श समाज के किसी वर्ग विशेष के हितों की उपेक्षा के कारण जन्म लेते है किंतु वृद्ध विमर्श किसी एक वर्ग विशेष पर आधारित न होकर समाज के प्रत्येक धर्म, जाति, उच्च एवं निम्न वर्ग आदि सभी को केंद्र में रखकर किया जाने वाला विमर्श है।

भारतीय समाज में आदिकाल से संयुक्त परिवार की परंपरा का चलन था। सामाजिक स्तर पर संयुक्त परिवार की बड़ी महत्ता और प्रतिष्ठा हुआ करती थी, जिस परिवार का मुखिया घर का बड़ा वृद्ध होता था जो अपने जीवनानुभवों से घर का संचालन करता था। जैसे-जैसे समाज परिवर्तित हुआ, उस पर आधुनिकता, भौतिकतावाद और उपभोक्तावाद हावी होने लगा, वैसे-वैसे उनकी जीवन दृष्टि और मूल्यों में परिवर्तन होना शुरू हो गया है जिसके प्रभाव से संयुक्त परिवार की परंपरा टूटकर एकल परिवार में परिवर्तित होने लगी है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वृद्धावस्था में वृद्धजनों के समक्ष तमाम प्रकार की समस्याएँ आने लगी है। भूमंडलीकरण के बाद से जन्मी परिस्थितियों के कारण पारिवारिक और सामाजिक मूल्यों में विघटन आने लगा है जिसमें सबसे अधिक वृद्धजन ही प्रभावित हुए। जो वृद्धजन परिवार के केंद्र पर अवस्थित हुआ करते थे वह आज परिवार की परिधि से बाहर होकर समाज में हाशिये की जिंदगी बिताने पर मजबूर है। परिवार और समाज में उनके प्रति सम्मान की भावना

समाप्त होने लगी है और उन्हें अपने ही घर में उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाने लगा है। वृद्धावस्था में सबसे अधिक मार मध्यवर्ग के वृद्धजनों पर पड़ती है किन्तु इससे अछूता कोई भी नहीं है।

वर्तमान समय में वृद्धजनों के लिए वृद्धावस्था एक अभिशाप है। वृद्ध व्यक्ति पारिवारिक और मानसिक सुख की तलाश एवं शारीरिक समस्याओं से जूझता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अतः परिवार और समाज में वृद्धों की उपेक्षापूर्ण दयनीय स्थिति का उल्लेख साहित्यकारों ने अपने-अपने तरीके से अपनी रचनाओं के माध्यम से करवाया है। सन् नब्बे के बाद के इन साहित्यकारों में निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती, चित्रा मुद्गल, रवींद्र वर्मा, रमेशचंद्र शाह, ममता कालिया, अलका सरावगी आदि के साथ-साथ काशीनाथ सिंह का नाम भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उनका 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास वृद्धवस्था की समस्याओं को उजागर करने वाला जीवंत दस्तावेज है।

वृद्धों की समस्या हमारे समाज में पहले से विद्यमान है किन्तु साहित्य में उनकी समस्याओं का पर्याप्त रूप से चित्रण नहीं हुआ है फिर भी उपन्यासों में वृद्ध पात्र कहीं न कहीं अवश्य देखने को मिल जाते है। व्यक्ति को बचपन में जो असमर्थताएँ होती है उन्ही असमर्थताओं को वह वृद्धावस्था में झेलता है। जिस प्रकार छोटा बच्चा स्वयं उठकर कोई काम नहीं कर सकता, उसे अपनी जरूरतों और आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अपने माता-पिता पर आश्रित होना पड़ता है वही स्थिति बुढ़ापे में वृद्धजनों की होती है क्योंकि वृद्धावस्था में उनका शरीर युवावस्था की भाँति सक्षम नहीं होता है जिससे उन्हें वृद्धावस्था में अपने बच्चों पर निर्भर होना पड़ता है।

भारतीय समाज में वृद्धों की स्थिति पर यदि गौर से विचार किया जाए तो हमें एक बड़ा बदलाव स्वतंत्रता के दो-तीन दशकों के बाद से देखने को मिलता है। जैसे-जैसे हमारा देश औद्योगीकरण के मार्ग पर अग्रसर होता है वैसे-वैसे पाश्चात्य संस्कृति की चमक युवा वर्ग को अपने मकड़जाल में फसाने लगती है। जिसका सीधा बदलाव हमारे परिवार नामक संस्था पर दिखाई देने लगता है। इस बदलाव का नतीजा है कि सयुंक्त परिवार की परम्परा टूटकर एकल परिवार, एकल परिवार से अति एकल परिवार और आज का युवा परिवार नामक संस्था को खारिज करके लिव-इन-रिलेशनशिप की ओर बढ़ रहा है। इस स्थिति

में बच्चों के साथ वृद्ध माता-पिता के रहने का सवाल ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त संयुक्त परिवार के विच्छेदन से वृद्धों में भावनात्मक सहारे की कमी हुई है। वर्तमान में इन परिस्थितियों को देखते हुए उनको पूर्व की भाँति सम्मानपूर्ण जीवन जीना देना समाज के लिए कड़ी चुनौती है। अतः इस लघु शोध के अंतर्गत परिवार और समाज में वृद्धों की समस्याओं पर विचार करने का प्रयास किया गया है।

मैंने अपने इस लघु शोध प्रबंध **"वृद्धावस्था विमर्शः 'रेहन पर रग्घू' और 'बागबान' फिल्म के विशेष संदर्भ में"** को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन अध्यायों में विभक्त किया है। इस शोध कार्य को संपन्न बनाने के लिए शोध में मुख्य रूप से विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक पद्धतियों के साथ मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय पद्धतियों का भी प्रयोग किया गया है।

प्रथम अध्याय है- 'वृद्धावस्था विमर्श'- इस अध्याय के अंतर्गत वृद्धावस्था की सैद्धांतिकी पर संक्षिप्त में विचार करते हुए वृद्धावस्था में वृद्धजनों के मानसिक परिवर्तन, परनिर्भरता, मूल्य परिवर्तन और पुनर्वास की समस्याओं को विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय है- 'साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध'- इस अध्याय के अंतर्गत सिनेमा के साहित्यिक विस्तार के साथ-साथ साहित्य और सिनेमा के विभिन्न बिंदुओं पर संबंधो को दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

तृतीय अध्याय है- " 'रेहन पर रग्घू' और 'बागबान' में फिल्म में वृद्धावस्था विमर्श"- इस अध्याय के अंतर्गत उपन्यास और फिल्म के आधार पर वृद्धजनों की समस्याओं से संबंधित चार उप-अध्याय बनाए गए हैं। वे क्रमशः पारिवारिक समस्याएँ, सामाजिक समस्याएँ, आर्थिक समस्याएँ, शारीरिक व मानसिक समस्याएँ हैं। यह समस्याएँ परस्पर एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। पहले उप-अध्याय- 'पारिवारिक समस्याएँ' में जब व्यक्ति अपने जीवन के अंतिम पड़ाव में होता है उस स्थिति घर के बेटा-बहू उनके साथ किस प्रकार अमानवीय और उपेक्षापूर्ण व्यवहार करते है, उसे दिखाने का प्रयास किया गया है। दूसरे उप-अध्याय- 'सामाजिक समस्याएँ' के अंतर्गत समाज में वृद्धों की स्थिति व उपेक्षा के

मूल कारणों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। तीसरे उप-अध्याय- वृद्धावस्था में वृद्धजनों की आर्थिक समस्या यानि धन की कमी व अधिकता एवं रख रखाव के कारण उत्पन्न परेशानियों से उनके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, उसे दिखाने का प्रयास किया गया है। चतुर्थ उप-अध्याय- शारीरिक व मानसिक समस्याएँ है जिसमें वृद्धजनों को वृद्धावस्था में परिवार और समाज के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से होने वाले असुरक्षा, अकेलापन, पूर्व-स्मृति, भय, संत्रास आदि के अतिरिक्त वृद्धजनों को होने वाली शारीरिक समस्याओं को दिखाने का प्रयास किया गया है।

उपसंहार के अंतर्गत इस लघु शोध प्रबंध के निष्कर्ष को सार रूप में प्रस्तुत किया गया है और अंत में आधार ग्रन्थ, सहायक ग्रन्थ, कोश, पत्र-पत्रिकाओं व वेबलिंक की सूची दी गयी है।

प्रस्तावित विषय पर लघु-शोध कार्य करने की अनुमति प्रदान करने के लिए मैं हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के शोध सलाहकार समिति एवं समस्त गुरुजनों का आभारी हूँ। इस लघ-शोध प्रबंध को पूर्ण करने में शुरू से लेकर अंत तक मेरा मार्गदर्शन करने वाले गुरुवर प्रोफेसर आलोक पाण्डेय सर के प्रति मैं विशेष आभार व्यक्त करता हूँ। वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रोफेसर गजेंद्र कुमार पाठक सर, डॉ.सच्चिदानंद चतुर्वेदी सर ने समय-समय पर जो महत्वपूर्ण सुझाव दिए, इसके लिए मैं उनके प्रति भी विशेष आभार प्रकट करता हूँ। इसके साथ ही इस लघु-शोध प्रबंध को पूर्ण करने में मेरा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मार्गदर्शन देने वाले गुरुजनों, हितचिंतकों एवं आत्मीयजनों का मैं सदा आभारी रहूँगा।

हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय के इंदिरा गाँधी मेमोरियल पुस्तकालय के कर्मचारीगण के प्रति भी आभार ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने यथासंभव पुस्तकों को मुहैया करा कर इस लघु शोध को पूरा करने में मेरी सहायता की।

राहुल वर्मा

प्रथम अध्याय

वृद्धावस्था विमर्श

"समय का पहिया चलता है
दिन ढलता है रात आती है।"[1]

भारतीय परिवेश में एक पुरानी कहावत है 'समय बहुत बलवान है' समय के साथ ही मनुष्य के सम्बंध उसकी सोच और सक्रियता सभी में बदलाव आया है। वह जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक विविध सामजिक सम्बन्धों का निर्वाह करते हुए जीवन-यापन करता है जब व्यक्ति का जन्म होता है तो वह भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से होकर गुज़रता है। जिस प्रकार मुट्ठी से रेत फिसल जाता है और उसे आभास नहीं होता है, उसी प्रकार समय मनुष्य को कुछ भी आभास किए बिना निरंतर गतिशील बना रहता है। बचपन के सम्बन्ध किशोरावस्था में छूट जाते है और समयानुसार साथी-संगी बदल जाते है इसी प्रकार युवावस्था के साथी, मित्र वृद्धावस्था में बदल जाते है या बिछुड़ जाते है। इसका कोई भी कारण हो सकता है चाहे समय की धारा में बह जाने के कारण या काल के गाल में समा जाने के कारण। कहने का तात्पर्य यह है कि समय के साथ मनुष्य की सक्रियता शिथिल पड़ जाती है और यह शिथिलता अन्ततः वृद्धावस्था में परिवर्तित हो जाती है। वृद्ध होना प्राकृतिक रूप से नैसर्गिक एवं जैविकीय प्रक्रिया है। ऐसा तो कदापि सम्भव नहीं है कि कोई भी व्यक्ति सदा किशोरावस्था या युवावस्था में ही बना रहे है। वृद्धावस्था मनुष्य जीवन की अंतिम सीढ़ी है जिस पर उसे चलना ही चलना है जो मनुष्य जीवन का कटु सत्य है।

ईश्वर ने प्रत्येक जीव-जंतु को ऐसा बनाया है कि वह एक निश्चित समय-सीमा में गतिशील एवं कार्यशील बना रहता है। वृद्धावस्था आने पर वृद्धजनों की देखभाल करना उनको सुरक्षित जीवन मुहैया करना, उनके प्रति सेवाश्रुषा का भाव हमारा दायित्व ही नहीं बल्कि हमारा पुण्य कर्तव्य एवं धर्म भी है। भारतीय संस्कृति में हमेशा

[1] भूतनाथ फिल्म (२००८)

से वृद्धों को विशेष रुप से पूजनीय माना गया है। ऐसा कहा जाता है कि यदि कोई वृद्ध शूद्र जाति का है तब भी वह सवर्ण जाति के लिए पितातुल्य सम्मान का अधिकारी है।

यह वही भारतवर्ष है जिसकी अलौकिक सभ्यता और संस्कृति की महिमा विश्व में चारों ओर प्रचलित है जिसमें वृद्धों को सदैव सम्मानीय माना गया है। मनुस्मृति के अध्याय-२ श्लोक-२२१ में वर्णित किया गया है-

"**अभिवादन: शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः**
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयु विद्या यशोबलम्।"[1]

अर्थात् जो व्यक्ति अपने से बड़े-बुजुर्गों को नित्य रूप से अभिवादन करता है, उस व्यक्ति की आयु, विद्या, यश और बल में वृद्धि होती है। वस्तुतः इस श्लोक के द्वारा भारतीय संस्कृति में वृद्धों के लिए विशेष सम्मान, आदर एवं सद्भावना की घोषणा की गई है।

भारत जैसे परंपरा प्रधान देश में संयुक्त परिवार की परंपरा रही है। जहाँ वृद्धों को मान, सम्मान व प्रतिष्ठा मिलती रही हैं। संयुक्त परिवार में बड़े-वृद्ध परिवार के एक मजबूत आधार स्तंभ होते थे। परिवार का वृद्ध घर का मुखिया होने के नाते परिवार पर नियंत्रण, प्रमुख फैसले लेना, धन-संपत्ति का संचय एवं खर्च आदि सभी कार्य किया करते थे। कहने का आशय यह है कि घर का वृद्ध ही सर्वेसर्वा होते थें। उनकी आज्ञा का पालन करना घर के सदस्यों का कर्तव्य होता था। इस संबंध में वैदिक कृष्ण कांत दैनिक जागरण के संपादकीय में लिखते हैं किः "घर में तपनिष्ठ व्यक्ति से जीवन सार को ग्रहण कर स्वयं के ग्रहस्थ जीवन को सुखद बनाना तथा उनसे ज्ञान अनुभव व कौशल को अर्जित करना।"[2] परंपरागत संयुक्त परिवार वर्तमान में एकल परिवार में बदल रहे है। जहाँ पारिवारिक ढाँचों में संरचनात्मक एवं प्रक्रियात्मक परिवर्तन हो रहा है, वही उसका प्रभाव वृद्ध माता-पिता और बच्चों पर भी दिखाई पड़ रहा है। वृद्ध जनों की समस्या समाज के लिए एक गंभीर चिंता

[1] यजुर्वेद

[2] वैदिक,कृष्णकांत (२०११),ऊर्जा ,दैनिक जागरण समाचार पत्र ,पृ९.

का विषय बनी हुई है। समाज की बदली हुई इस व्यवस्था ने वृद्धों को अभिशप्त कर दिया है। हमारे देश का पारिवारिक ढाँचा मजबूत होने व सांस्कृतिक मूल्यों की विरासत हमें बुजुर्गों का सम्मान करना सिखाती है। किन्तु पश्चिमी देशों की अपसंस्कृति, औद्योगीकरण, भौतिकतावादी दृष्टिकोण एवं नगरीकारण के दुष्प्रभाव के कारण भारतीय युवावर्ग की जीवनशैली में न केवल परिवर्तन हुआ है बल्कि परिवार के प्रति उनके मूल्यों का ह्रास भी हुआ है। जो जीवन मूल्य गर्व से हमारा सिर ऊँचा किया करते थे, वही जीवन मूल्य आज पतझड़ की भाँति झड़ रहे है। पाश्चात्य संस्कृति ने आज के युवाओं को ऐसे प्रभावित किया है कि आज का परिवार केवल पति-पत्नी और अपने बच्चों तक ही सिमट कर रह गया है। वह अपने जन्मदाता माता-पिता तक को भूल गए है, दादा-दादी, चाचा-चाची, नाना-नानी की बात तो आप छोड़ ही दीजिए। अब उनके परिवार का दायरा सिर्फ पति-पत्नी और उनके बच्चे रह गए है। विचारणीय है कि इन बच्चों को संस्कार, किस्से-कहानी, संस्कृति से परिचित कराने वाले दादा-दादी के लिए परिवार में कोई जगह नहीं है। ऐसी स्थिति में रिश्तों की गरिमा, महत्ता और अर्थवत्ता से अपरिचित बच्चे समाज का निर्माण किस प्रकार कर सकेंगे? जिसके परिणामस्वरुप वृद्धजन स्वयं को असुरक्षित महसूस करते हुए विविध प्रकार की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक व पारिवारिक समस्याओ से ग्रसित होने का अनुभव करते हैं।

वृद्धजनों की बढ़ती समस्याओं का मुख्य कारण है आर्थिक प्रतिस्पर्धा। आगे बढ़ने की होड़ ने सभी प्रकार के सम्बन्धों, दायित्वों एवं कर्तव्यों को परिवर्तित कर दिया है जिसका सबसे अधिक प्रभाव परिवार पर पड़ा है। सयुंक्त परिवार की व्यवस्था बिखरकर एकल परिवार में परिवर्तित हो गई है। जहाँ बुजुर्गो का स्थान शून्य हो गया, यहाँ तक कि भवनों का निर्माण भी एकल परिवार की दृष्टि को मद्देनज़र रखते हुए किया जाने लगा है। बच्चों की महत्वाकांक्षों और अपने स्वार्थों की पूर्ति के उपरांत परिवार नामक संस्था में वृद्ध माता-पिता के लिए खाली समय नहीं रहा अगर शेष रहा भी तो वह केवल पिष्टपेषण मात्र। "आधुनिक माता-पिता भौतिक सुख-साधनों को जुटाने, बच्चों को उच्च शिक्षा दिलाने, ऊँचे पदों के लिए प्रतिस्पर्धा करना जैसे आदि कारणों से वृद्ध माता-पिता के प्रति कर्तव्यों को भूलते जा रहे हैं, वहीं वृद्धों को बिना बच्चों के जीवन बिताना

कठिन होता जा रहा है। वह इसी आशा से जीते हैं कि हमारे बच्चे हमारा ध्यान रखें और कुछ समय हमारे साथ व्यतीत करेंगें किंतु ऐसा संभव नहीं हो पा रहा है सब कुछ गलत हो रहा है फिर भी ऐसा चलते देना एक आदत बनती जा रही है और इसके लिए हँसी-खुशी तैयार रहना होगा नहीं तो असहनीय पीड़ा कब बन जाएगी पता भी नहीं चलेगा। गाँव हो या शहर प्रतिस्पर्धा के इस युग में जहाँ 'मनीफैक्टर' समाज पर हावी है इसके चलते मानव ने स्वयं को मशीन के रूप में परिवर्तित कर लिया है तथा 'येन-केन-प्रकरेण' धन जुटाने में संलिप्त है।"[1]

भारतीय समाज में वृद्ध सदैव सम्मानीय रहे हैं। वृद्ध परिवार के उस विशालकाय वृक्ष की जड़ के समान है, जो परिवार के सभी सदस्यों को अपनी शाखारूपी भुजाओं में बाँधे रखते हैं। वृद्धजनों के आशीर्वाद से ज्ञान, अनुभव, कार्यकुशलता एवं प्रेरणा की प्राप्ति होती हैं। यह वृद्धजन सयुंक्त परिवार में अशक्त, विधवा, बच्चों को पूरी तरह से सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान करते है। यह भारतीय संस्कृति की महानता है कि जिसमें बड़े-बुजुर्गों को भगवान तुल्य माना जाता है और कहा जाता है कि माता-पिता की उपस्थिति से घर घर नहीं स्वर्ग बन जाता है। यजुर्वेद में लिखा गया है कि-

"मातृ देवो भवः पितृ देवो भवः"[2]

भारतीय परंपरा में सयुंक्त परिवार समाज की एक ऐसी संस्था है जिसमें व्यक्तियों की प्रवृति, मनोवृति और मूल्यों में आत्मीयता का भाव आदि की निकटता का ज्ञान होता है। उनके आपसी संबंधों की घनिष्ठता का बोध होता है। भारतीय संस्कृति 'वसुधैव कुटम्बकम्' की संस्कृति रही है जिसमें घर-परिवार,पास-पड़ोसी ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व को अपना परिवार मानते है। इस संस्कृति का ज्ञान प्राथमिक रुप से हमें हमारे बड़े-बुज़ुर्ग दादा-दादी, नाना-नानी से सीखने को मिलता है। वह बड़े-बुज़ुर्ग ही हमारा सामाजिकरण करके हमें समाज में रहने के योग्य बनाते है। इसीलिए हमारा यह दायित्व है कि हम उनकी सेवा करते हुए उन्हें सामजिक, आर्थिक, मानसिक कष्टों से बचाए रखे जिससे अंत समय तक वह हमारे लिए आशीर्वाद का भाव बनाए रखें।

---

[1] www.egyankosh.ac.in

[2] यजुर्वेद

आधुनिक समाज सुशिक्षित समाज कहलाता है। आधुनिकता के इस युग में जहाँ एक ओर हम वैज्ञानिक तर्कबुद्धि और पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर रूढ़िवादी मानसिकता की बंधी हुई परंपरा से निकलकर विकासोन्मुख हो रहे हैं वहीं दूसरी ओर इन सबके बीच मानव जीवन की सबसे महत्वपूर्ण मानवीय मूल्यों एवं संस्कारों से बिसूरते जा रहे है। मनुष्य ने जिस प्रकार पिछले कुछ दशकों में वैज्ञानिक प्रगति के साथ सूचना, तकनीकी एवं यातायात साधन आदि में बेहताशा वृद्धि हुई है उसी प्रकार मनुष्य की औसत आयु में वृद्धि के साथ-साथ वृद्धजनों की समस्याएं भी बढ़ती जा रही है। जब घर-परिवार, सगे-संबंधी एवं समाज में बड़े-बुजुर्गों को सम्मान मिलता था तब वृद्धावस्था किसी को समस्या नहीं लगती थी किन्तु समय के साथ परिस्थिति, लोगों की मानसिकता आदि सब कुछ परिवर्तित हो गई है। वर्तमान समय में वृद्धजन संक्रमणकाल की स्थितियों सामना कर रहे हैं। इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए डॉ. ऋषभदेव शर्मा ने लिखा हैः "दरअसल वरिष्ठ नागरिकों अथवा वृद्धों के संबंध में समाज का चरित्र व्यापक स्तर पर दोगलेपन शिकार रहा है, एक ओर तो नित्य उनका आशीर्वाद लेने की बात की जाती है, तथा दूसरी ओर उन्हें बोझ समझा जाता है समाज, साहित्य और संस्कृति में सदा उपस्थित रहने के बावजूद वृद्धों की अवस्थिति केंद्र की अपेक्षा परिधि पर ही रही है। बुढ़ापा आने का अर्थ ही है व्यक्ति का केंद्र से उखड़कर परिधि की ओर जाने के लिए विवश होना। केंद्र से अपदस्थ होते ही व्यक्ति समाज की उपेक्षा का पात्र बन जाता है, और यदि उसका सही पुनर्वास न हो तो उसे अपना अस्तित्व ही अभिशाप लगने लगता है, इस प्रकार परिधि पर धकेले गए एक समुदाय के रूप में वृद्ध समुदाय दुनिया का बहुत बड़ा उपेक्षित जन समुदाय है।"[1]

वृद्धावस्था की अवधारणा को तीन बिंदुओं द्वारा समझा जा सकता है –

१.मनोवैज्ञानिक दृष्टि

२.जैविक दृष्टि

---

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-६

३. आर्थिक दृष्टि

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से “१९४९ में शिकागो कमेटी द्वारा ‘ह्यूमन डेवलेपमेंट ऑफ़ द सोशल रिसर्च कॉउंसिल इन यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ़ अमेरिका’ में वृद्धावस्था पर प्रथम बार गंभीरतापूर्वक अध्ययन के दौरान मनोवैज्ञानिक अध्ययन को आधार बनाते हुए कार्य आरंभ हुआ। इसी काउन्सिल में पोलाक (१९४८) द्वारा एक रिसर्च प्लानिंग रिपोर्ट प्रस्तुत की गई इस रिपोर्ट ने १९६० में अच्छी तरह से वृद्धावस्था के मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर शोध शुरू कर दिया था।”[1] इस रिपोर्ट के अध्यन के उपरांत वृद्धावस्था के मनोविज्ञान पर विचार किया जा सकता है और कहा जा सकता है कि मनुष्य की आयु जिस प्रकार धीरे-धीरे बढ़ती जाती है, उसी प्रकार उसके मन-मस्तिस्क की विचारधारा में धीरे-धीरे परिवर्तन होना शुरू हो जाता है। उसकी सोच-समझ और व्यवहार में परिवर्तन हो जाता है। जैसे-जैसे मनुष्य के शरीर में परिवर्तन आता है वह वृद्ध होता जाता है वैसे-वैसे उसकी स्मृति लोप, अवसाद, निराशा, कुंठा एवं मोह आदि की अधिकता उसके मन में घर कर जाती है। इसके साथ ही उनके मन में जीवन के प्रति वह अनुराग, अभिलाषा, आकांक्षा शेष नहीं रह जाती है जो उनके जीवन की चरम युवावस्था में होती है।

इसके अतिरिक्त वह अपने अतीत की स्मृतियों में खो जाने, प्रकृति से मोह, बचपन की स्मृति में चले जाना, अकेलेपन का अनुभव करना, जीवन की प्रति अनिश्चितता का भाव रखना, घुटन, संत्रास आदि से उत्पन्न स्थितियाँ वृद्धावस्था के मनोभाव है।

वृद्धावस्था की अवधारणा को समझने का दूसरा बिंदु है- जैविक दृष्टि। जब व्यक्ति की आयु में परिवर्तन होने लगता है तो वह आयु परिवर्तन व्यक्ति के शरीर में भी दिखाई देने लगता है यथा- दाँत निकल जाना, सिर के बाल सफ़ेद हो जाना व झड़ जाना, आँखों से काम दिखाई देना, हाथ-पैर की खाल सिकुड़ जाना, जोड़ो में सूजन व दर्द का नियमित रूप से रहना, कार्य करने की शक्ति का काम हो जाना, अपच की समस्या, कानों से

[1] वृद्ध महिलाओं का समाजशास्त्र , पृ.१०

भी काम सुनाई देना आदि समस्याएँ वृद्धवस्था की जैविक समस्याएँ है। इस स्थिति को और अधिक विश्लेषित करते हुए प्टाह होटेपे ने कहा थाः "कितना कठिन और कष्टदायक होता है बुढ़ापा-बीनाई मद्धिम, कान बहरे, शक्ति क्षीण, दिल बेचैन, मुँह से बोल बंद, कल की बात याद नहीं, हड्डियाँ चरमराती है...कितना दुर्भाग्य ले आया है बुढ़ापा।"[1]

वृद्धावस्था की अवधारणा को समझने का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू है- आर्थिक दृष्टिकोण। आर्थिक स्तर पर भारत में तीन वर्ग है उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग। उच्च वर्ग के परिवारों में वृद्ध लोगों को आर्थिक स्तर पर विशेष रूप से कोई समस्या नहीं होती है लेकिन भावात्मक स्तर पर वहाँ भी अपने पुत्र-पुत्रवधू से उपेक्षा ही मिलती है लेकिन अपनेपन के कारण अपने बेटे-बेटियों के बच्चों से न मिलने की तड़प से हमेशा तड़फड़ाते रहते है जो वृद्धावस्था विमर्श की एक समस्या बनकर उभरती है। कुछ उच्च परिवारों में अपने घर के वृद्धों को वृद्धाश्रम में छोड़ देते है। यह आधुनिक कल्चर का एक हिस्सा बनता जा रहा है लेकिन वहाँ भी यह वृद्धजन अपने परिवार के सदस्यों से मिलने की तड़प बनी रहती है जो समय के साथ निराशा में परिणत हो जाती है। यह वृद्धजन अपनी इसी तड़प की अग्नि में जलकर इस संसार से विदा हो जाते है।

मध्यम वर्ग के परिवारों के वृद्धजनों की चर्चा करे तो ऐसा अनुभव किया जाता है कि जिन परिवारों में पुत्र अपने पिता के पैतृक व्यवसाय को अपनाकर जीवन निर्वाह कर रहा है। उन परिवारों में पुत्र-पुत्रवधु अपने घर के वृद्ध माता-पिता या दादा-दादी को वृद्धाश्रम में नहीं छोड़ते है किन्तु सच तो यह है कि ऐसा वह सम्मान के लिए नहीं करते है बल्कि समाज के उलाहने की वजह से करते है। वृद्धजनों को मध्यम परिवारों में भी वह सम्मान नहीं मिल पता है जिसके वह वास्तविक हकदार हैं। वृद्धों की अपनी महत्वांकाक्षा और पुत्र-पुत्रवधु की अँहकारवादी प्रवृति के कारण घर में उनकी स्थिति हमेशा द्वैत की रहती है जिससे असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यही कारण है जिससे सयुंक्त परिवारों की व्यवस्था टूटकर एकल परिवारों में परिवर्तित हो रही है।

---

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-३१

इस स्थिति को और अधिक विश्लेषित करते हुए विमला लाल ने अपनी पुस्तक में लिखा हैः "मध्य वर्ग इस समस्या के कारण सबसे अधिक पीड़ित है वहाँ तो आज हर घर में लोग इस समस्या से संघर्ष करते हुए दिखाई पड़ते है वस्तुतः गरीब तो जी लेता है अपनी गरीबी और अभावों की आड़ में और धनाढ़्य वर्ग अपनी अमीरी की ठसक में, उनके लिए तो भावनात्मक संबंध कोई मायने नहीं रखते है। लेकिन मध्यम वर्ग का वृद्ध कहाँ जाए? उसके पास तो इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते भावनाओं के सिवा कुछ बचा ही नहीं रहता। अपनी तमाम उम्र वह घर के आगे परदा टांगकर संघर्षो से जूझता रहता है बुढ़ापे में जब उसे इसी परदे से बाहर फेंक दिया जाता है तो सहसा निर्वस्त्र रह जाने की तिलमिलाहट उसे जीने नहीं देती है। वह तन और मन दोनों से दूर जाता है।"[1] मध्यमवर्गीय परिवारों में मात-पिता अपनी इच्छाओं और जरूरतों का गला घोंटकर अपने बच्चों को पढ़ाते-लिखाते है। उन्हें किसी भी तरह से सभी प्रकार की सुख-सुविधा मुहैया कराते है। लेकिन यही बच्चें जब सरकारी अथवा गैर सरकारी विभाग में नियुक्त हो जाते है तब उनका विवाह कर दिया जाता है। हालांकि कुछ बच्चें अपने माता-पिता की आज्ञा का अनुसरण करते हुए विवाह कर लेते है किन्तु कुछ बच्चें अपने माता-पिता की अवलेहना करते हुए अपनी इच्छानुसार भविष्य का जोड़-भाग करते हुए विवाह कर लेते है। अधिकांशतः मध्यवर्गीय परिवारों में वृद्धजनों की समस्या बच्चों के शादी-विवाह के बाद उत्पन्न होती है। विवाह के उपरांत यह बच्चें अपने माता-पिता को अपनी मज़बूरी समझते है लेकिन वह नासमझ बच्चें यह भूल जाते है कि आज वह स्वयं जिस स्थिति में है वह उनके माता-पिता द्वारा दिए गए बलिदान का ही नतीजा है। अपने पति की इस अवहलेना को उनकी पत्नी भी प्रश्नांकित नहीं करती है बल्कि उनकी सहगामी बनते हुए वह भी अपने सास-ससुर की कर्ण कटु बातें सुना-सुनाकर उनका जीवन दुर्भर कर देती है और अपने दाम्पत्य जीवन में सास-ससुर को मुख्य समस्या मानती है। साहित्येतिहास में वृद्ध विमर्श की सम्पादकीय में शिवचंद सिंह लिखते हैः "नव विवाहिता पति को लेकर अलग आशियाना बसाने की जिद कर बेटे को विवश कर देती

[1] वृद्धावस्था का सच, पृ.४३

है इधर दो कमरे के फ्लैट में तन्हा वृद्ध बंद होकर रह जाते है, अकेलाजन्य समस्याओं एवं व्याधियों का दंश झेलने के लिए।"[1]

निम्नवर्ग व मजदूर वर्ग की बात करें तो निम्न वर्ग के लोगों को और उनके बच्चों को जहाँ चार पैसे का काम मिल जाता है वह वहीं अपनी झोपड़ी डाल लेते है। लेकिन यहाँ ग़ौर करने की आवश्यकता है कि इन परिवारों में वृद्धों की स्थिति सर्वाधिक शोचनीय है। इन परिवारों के वृद्धों को न समय से भोजन मिल पाता है और आर्थिक तंगी उनके स्वास्थय पर दोहरा बोझ डाल देती है। अगर जैसे-तैसे करके उपचार की व्यवस्था कर ली जाए फिर भी इन परिवारों के लोग उस तरह के उपचार की व्यवस्था नहीं कर सकते जिस प्रकार की व्यवस्था मध्यवर्गीय और उच्च वर्ग के परिवार कर सकते हैं क्योंकि इस वर्ग के परिवारों की मुख्य समस्या है पेट की आग को शांत करने की जैसा कि तुलसीदास भी लिखते हैं कि- **"आगि बड़वागि ते बड़ी आग पेट की।"**[2] फिर भी यह लोग अपनी आर्थिक तंगी और बदहाल स्थिति से उभरने के लिए दिन-रात काम के बोझ से दबे रहते है। जिसके कारण ऐसा देखा जाता है कि अधिकांश वृद्धजन को ६० वर्ष की आयु को पार करना भी मुश्किल हो जाता है और समय से पहले ही वे इस संसार से विदा हो जाते है। ऐसे वृद्धजनों को अपने जीवन में कभी सुख नहीं मिल पाता है चाहें वह उनका बचपन रहा हो या युवावस्था। दो रोटी की भूख को शांत करने के लिए वह पूरा जीवन काम करते रहे। काम करते-करते कब बुढ़ापा आ गया उन्हें पता भी नहीं चलता।

आधुनिक युग में मनुष्य ने प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति अवश्य की है किन्तु अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं और क्षुद्र स्वार्थो को पूरा करने में वह इतना व्यस्त हो गए हैं कि वह अपनों से दूर होते जा रहे है। जिन माता-पिता ने उन्हें जन्म दिया, उनका लालन-पालन किया, पढ़ाया-लिखाया सभी प्रकार के दायित्वों का निर्वाह किया, आज उन से दो पल सुकून से बात करने के लिए उनके पास समय तक नहीं है। सवाल यह है कि इन

---

[1] (सम्पादकीय) साहित्येहास में वृद्ध विमर्श

[2] कवितावली, दोहा सं-६६

सब के बीच माता-पिता का क्या दोष? जो अपने बच्चों, नाती-पोते को देखने के लिए तरस जाते है। बेबश लाचारों की तरह एक कोने में बैठकर अपने बच्चों के आने की राह दिन-रात बाट जोहते रहते है। कुछ लोग तो आर्थिक उन्नति के लिए विदेश चले जाते है और वहीं विवाह करके अपना परिवार बसा लेते है। वे कभी भी अपने देश के बारे में यह नहीं सोचते कि हमारा अपना भी देश है, जहाँ हमारे अपने हमारा इंतजार कर रहे हैं। विदेश में रह रहे बच्चें अपने माता-पिता को कुछ पैसे भेज देते है और वह समझते है कि उन्होंने अपना दायित्व पूरा कर लिया। विचारणीय है कि क्या चंद रुपए पैसे देकर वह अपने दायित्व का पूर्ण निर्वाह कर रहे है? जिस अवस्था में उन्हें अपने बहू-बेटों की सबसे से अधिक आवश्यकता है उस उम्र में उनको या तो अकेला छोड़ दिया जाता है या उन्हें वृद्वाश्रम का रास्ता दिखा दिया जाता है। क्या इन वृद्धजनों को वृद्धाश्रम में वह प्यार, सम्मान मिल सकता है? जो उन्हें अपने बच्चों और परिवार से मिल सकता है। वृद्धावस्था मनुष्य जीवन की ऐसी अवस्था होती है जिसमें उसकी मानसिकता छोटे बच्चे जैसे हों जाती है। जिस प्रकार बच्चे अपने बचपन में अपने माता-पिता, भाई-बहन सभी से लाड़-प्यार की अपेक्षा रखते हैं, उसी प्रकार उम्र के अंतिम पड़ाव में वृद्धजन अपने बेटा-बहू, नाती-पोतों से प्रेम और सम्मान की अपेक्षा रखते है। शायद इसका एक अनुभव यह लगाया जा सकता है कि वह अपने युवावस्था में बच्चों की जरुरत, गृहस्थी की आवश्यकता में अपनी जवानी खपा देता है, जिससे वह प्रेमरस से शून्य हो जाता है। अब बचता है उसके पास अपना बुढ़ापा जिसे वह शांतिपूर्वक अपनों के साथ व्यतीति करना चाहता है परन्तु वर्तमान स्थिति में इतना उलट फेर हुआ है कि जिसमें घर के बड़े-बुजुर्गो को घर से निकाल दिया जाता है या अकेले रहने के लिए विवश कर दिया जाता है। जिसमें वह अपना एकाकी, असहाय, निराश्रित जीवन जीने के लिए विवश हो जाते है। इस स्थिति का रेखांकित करते हुए विमला लाल ने लिखा हैः "ऐसे में जब वे घर से निकाल दिए जाते हैं या अकेले छोड़ दिए जाते हैं तो निपट एकाकी, असहाय, निराश्रित स्थिति में घिसट-घिसटकर जिंदगी के रहे-सहे दिन पूरे करते हैं। और अगर सारा अपमान पीकर किसी तरह घर में ही पड़े रहे तो उनकी हालत किसी नौकर से भी बदतर, एकदम गुलामों की-सी होती है, जो एक तरह से यही प्रमाणित करती है कि अब वृद्ध मात्र समाज के लिए नितांत अनुपयोगी

है! ये आश्रम पूर्ण रूप से यही तो सिद्ध करते हैं कि अब वे अनुभवी वृद्ध घर के लिए नितांत निरर्थक और फालतू वस्तु मात्र होकर रह गए हैं, जिन्हें बरदाश्त करना सामान्य सहनशीलता के स्तर से परे है।"[1]

हिंदी उपन्यास साहित्य और हिंदी सिनेमा ने वृद्धावस्था की समस्याओं को अपनी-अपनी दृष्टि से मुखरित करने का प्रयास समय-समय पर किया हैं। हिंदी के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से वृद्ध जीवन की विडम्बनाओं, अवमूल्यित स्थिति का चित्रण कर अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इनके अतिरिक्त वृद्धों के प्रति दृष्टि एवं उनकी स्थिति से भी अवगत कराया एवं वृद्धों के मनोविज्ञान के अनछुए पहलुओं का उद्धघाटन करने में भी हिंदी उपन्यास साहित्य एवं सिनेमा काफी सार्थक रहा है। वृद्धवस्था पर विचार करने से पहले वृद्धावस्था के उन तमाम सैद्धांतिक, भौतिक, मानसिक पहलुओं के बारे में विचार करना आवश्यक है।

अ. मानसिक परिवर्तन

वृद्धावस्था का एक महत्वपूर्ण पक्ष है मानसिक परिवर्तन। व्यक्ति की आयु जैसे-जैसे बढ़ती जाती है उनके सोचने-समझने की क्षमता में परिवर्तन आने लगता है। वृद्धावस्था में व्यक्ति की बौद्धिक एवं रचनात्मक क्षमताओं में ह्रास, लचीलेपन में कमी, कार्यकुशलता का ह्रास, बौद्धिक योग्यता में कमी आना, स्मृति का लोप होना, आदि दृष्टिगोचर होने लगता है जिससे वृद्धजन उदासीन दिखाई देते है। उनका किसी कार्य में मन का न लगना, अरुचि, अविश्ववास का भाव, आत्मसम्मान का कम होना, बुरे ख्याल का आना, निराश, भूलने की बिमारी, तनाव, अवसाद आदि के ग्रसित होने से वृद्धावस्था में मानसिक परिवर्तन होता है। विमला लाल लिखती हैं किः "जीवन के इस चौथेंपन तक पहुँचते-पहुँचते आदमी के हाथ-पाँव थकने लगते है। अंग शिथिल होने लगते हैं और सारा शरीर ही धीरे-धीरे जबाब-सा देने लगता है। और असमर्थता की इस प्रतीति के साथ

[1] वृद्धावस्था का सच, पृ.-५५

ही मन पर एक अनजाना-सा भय हावी होने लगता है- आने वाले समय में आशंकित घोर संघर्ष, तनाव, संताप और समाज से, विशेषकर उन अपनों से ही मिलने वाले अपमान और यातनाओं का भय, जिनके लिए मनुष्य अपने जीवन की महत्वपूर्ण घड़ियों को बलिदान कर-करके उनके सुख का भार ढ़ोता-ढ़ोता ही इस अवस्था में पहुँच गया है! इस अवस्था का आरम्भ होते ही मनो सारा संसार अपना रंग बदलने लगता है। आदमी के मन में निरंतर एक संत्रास सांप की तरह कुंडली-सी मारकर बैठ जाता है। उस परिवेश में आदमी खुलकर साँस तक नहीं ले पाता। वह जीता तो है, किन्तु जीवन पर जैसे हर पल मौत की धमक-सी रहती है। मानसिक एवं शारीरिक स्तर पर अनेक भयंकर संघर्ष और नैतिक-अनैतिक दबाब उसे इस सीमा तक विचलित करते रहते है कि वह किसी भी तरह उबर नहीं पाता और हर पल का निरंतर तनाव तथा पस्ती उसे घोर हताशा से तोड़ती रहती है।"[1]

वृद्धावस्था मनुष्य जीवन की अंतिम और सार्वभौमिक अवस्था है। इस अवस्था में वृद्धजनों के व्यवहार में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन आता है। वृद्धावस्था में वृद्धजन अपने बचपन में वापस लौटने लगते हैं। बचपन से युवावस्था में प्रवेश के समय व्यक्ति को अपने उम्र का अहसास होता हैं क्योंकि बचपन में माता-पिता का लाड़-दुलार और भाई-बहन की हँसी ठिठोली युवावस्था में परिवर्तित होकर यार दोस्तों के संग मौज मस्ती में परिवर्तित हो जाती है। युवावस्था से वृद्धावस्था में कब प्रवेश कर जाते है इसका अहसास एक पल के लिए भी नहीं होता है। "मदाम द सेविन ने २६ जनवरी १९८७ को इसका सुन्दर वर्णन इस प्रकार किया था- 'नियति हम पर इतनी दयालु है कि हमारे जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का हमे पता ही नहीं चलता। यह ढ़लान इतनी कोमलता से फिसलती है कि समय की गति का अहसास होता। दिन-ब-दिन हम अपना वही चेहरा आईने में देखते हैं। कल का चेहरा आज दिखाई दिखाई देता है। परन्तु यदि आज साठ वर्ष की आयु में खड़े होकर बीस वर्ष की आयु का चित्र देखेंगे तो शरीर में बदलाव पर आश्चर्यचकित रह जायँगे।"[2]

---

[1] वृद्धावस्था का सच, पृ.-५५

[2] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-५४

वृद्धावस्था में व्यक्ति को अनेक प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक व्याधियाँ जकड़ लेती हैं। वृद्धावस्था में वृद्धजन अस्वस्थता के कारण दुर्बल हो जाते है जिससे उनके कार्य करने की क्षमता में ह्रास होने लगता है। उसके साथ ही उनकी स्मरण शक्ति कमजोर होने लगती है। वृद्धावस्था में वृद्धजन अपनी दो-चार बातों के अलावा अन्य बातों को धीरे-धीरे भूलने लगते है। जिसके कारण घर-परिवार के लोग उनकी उपेक्षा करने लगते है और उनके अलग थलग छोड़ देते है। वृद्धजन अपने समय के दौरान किए गए सेवा, त्याग, परोपकार, बलिदान आदि सद्कर्मों को याद करके अपने खाली समय में इन्ही बातों को याद करते है। साथ ही अतीत में अकेलेपन के साथ जीवन को जीने के लिया मजबूर हो जाते है और अपने को धकेलते हुए आगे बढ़ते जाते है। "यह बचपन ही है जो वृद्ध का पीछा नहीं छोड़ता। बचपन की छाप इतनी गहरी होती है कि वह जीवन के अंत तक साथ रहती है। इस बात को फ्रायड और मोंटेन ने अपनों तर्कों से प्रमाणित भी किया है। युवावस्था में व्यक्ति को इतना समय नहीं होता कि वह अपने बचपन की इस छाप के बारे में सोचे पर जैसा कि नोडियर ने कहा- 'प्रकृति की यह सबसे बढ़ी कृपा है कि वृद्धावस्था में व्यक्ति अपने बचपन की स्मृति में आसानी से लौट सकता है।' "[1]

वृद्धजनों के लिए हताशा और अकेलापन एक ही सिक्के दो पहलू है। वृद्धजन अपने जीवन के इस चौथेपन में पहुँचकर परिवार और समाज के वातावरण को देखकर अपने को बहुत ही खिन्न और हताश महसूस करते है। उनकी इस हताशा का मुख्य कारण है घर के सदस्यों का उनके प्रति उपेक्षा का भाव। जिसके कारण वह अपने को घर और समाज से अलग कर लेते है। ऐसी स्थिति में उनके बच्चों के द्वारा उनके प्रति कही हुई भली-बुरी बातें उनके मन में आहत करती हैं जिसे वे किसी अन्य के सामने बतला नहीं सकते और उन बातों को लेकर वृद्धजन मन ही मन कुढ़ते रहते है। जिससे कारण वह हताशा और निराशा से भरी जिंदगी को जीने के लिए विवश होते है।

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-६६

वृद्धावस्था में वृद्धजन गुम-शुम और उदास रहने लगते है और अपने समक्ष होने वाले विविध क्रियाकलापों को चुपचाप देखते रहते है। घर का कोई भी सदस्य उनसे कुछ भी पूछने की जहमत तक नहीं करता है। सभी लोग अपने-अपने में व्यस्त रहते है चाहे वह घर की महिलाएँ हो, पुरुष हो या बच्चें। सभी लोग उन्हें अशक्त और बेकार समझते है क्योकि अब वह शारीरिक से सक्षम नहीं रहें। इसीलिए वृद्धजनों को अनुपयोगी समझा जाता है और अब वह वस्तु मात्र रह गए है। जिसके कारण उन वृद्धजनों के मन और जीवन दोनों में उदासी छा जाती है। सिमोन द बउआ अपनी पुस्तक में उल्लेख करती हुई लिखती हैं किः **"मुझे बहुत ही दुख होता है जब मै आज से बीस वर्ष पूर्व के जीवन और आज को देखता हूँ। जब मै सुबह उठता हूँ तो पहले की तरह जीवन में कोई सार दिखाई नहीं देता, रोज का वही जीवन, जो कल था वही आज!"**[1]

जिस प्रकार मनुष्य युवावस्था में अपनी कामवासनाओं को शांत करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोजन करता है चाहे वह वैवाहिक तरीके से या अन्य उपक्रमों के द्वारा। उस युवावस्था में उन्हें कोई रोकता-टोकता नहीं है तो फिर बुढ़ापे में ही क्यों सारी बंदिशे लाद दी जाती है? सामान्यतः घरों में देखा जाता है कि घर के वृद्धों के लिए अलग-अलग कमरों व्यवस्था कर दी जाती है या पुरुष वृद्ध के लिए घर का बरामदा या कमरे के बाहर व्यवस्था कर दी जाती है और महिला के लिए अलग कमरे या छोटे बच्चों को उनके साथ सोने की व्यवस्था कर दी जाती है। आखिरकार उन पर यह बंदिशे क्यों लगा दी जाती है? वह भी इंसान है, उनके भी मन में एक दूसरे के प्रति कुछ भावनाएं है। लेकिन वे अपनी कामेच्छाओं को समाज और बच्चों के डर से दबा देते है। वे यह सोचते हैं कि अगर समाज में उनके इस प्रकार के कृत्यों पता चलेगा तो उनकी जगहँसाई हो जाएगी जिसके कारण वह बाहर नहीं निकल पायेंगे। यदि उनके खुद के बच्चों पता चलेगा कि इस उम्र में अपनी रासलीला रचा रहे तो शर्म से उनकी नज़रे झुक जाएगी जिसे वह अपने जीते जी कभी उनसे नज़रे नहीं मिला

---

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-६६

पायेंगे। इस संदर्भ में सिमानि द बउआ अपनी पुस्तक में लिखती हैं किः "बुढ़ापे में यदि कोई व्यक्ति कामुकता के कारण कुछ करता है तो समाज उसे प्रताड़ता है और वह जगहँसाई का पात्र बन जाता है 'बूढ़ा होकर भी ऐसा करता है, शर्म नहीं आई उसे' ऐसा ताना अक्सर सुनने में आता है 'लोग क्या कहेंगे' की मनोवृति में वह जीता है और अपनी वासना की प्रवृति को दबाने का प्रयास है। ऐसे में ग्रहस्थ जीवन एक बड़ा सहारा होता है जो उसकी इस वासना को चारदीवारी में तृप्त कर सकता है। अपनी पत्नी सहयोग उसे समाज में मखौल बचा सकता है और अपनी शारीरिक दुर्बलता के कारण असफल होने की संभावना से मायूसी भी नहीं झेलनी पड़ती।"[1]

मनुष्य जीवन के चार पड़ाव माने जाते है और प्रत्येक पड़ाव की समय-सीमा लगभग बीस से पच्चीस वर्ष है। मनुष्य जीवन के यह चार पड़ाव ऋतु के समान अपने समयानुसार धीरे-धीरे परिवर्तित होते रहते है। जीवन के अंतिम पड़ाव वृद्धावस्था में मनुष्य मृत्यु के साथ दो-दो हाथ करते हुए चलता रहता है, लेकिन समाज और परिवार की उपेक्षा और उनके व्यवहार से पीड़ित होकर वह मृत्यु को लेकर काफी आशान्वित सा रहता है। वृद्धजन को जहाँ एक ओर शारारिक समस्याओं के कारण बोलने, देखने, चलने-फिरने में दिक्कत का सामना कारण पड़ता है वहीं दूसरी ओर घर के रूखेपन का सामना कारण पड़ता है। वृद्धजन मृत्यु को लेकर सोचते है कि एक न एक दिन इस संसार से विदा लेकर हमको जाना ही है तो हम इतनी जहालत और परेशानी का सामना क्यों करें। सिमोन द बउआ लिखती हैः "किसी दिन तो आना ही है, हाँ सोचते है...अक्सर सोचते है,जब मै साँस लेना भूल जाऊंगा उस दिन।...जब मै उदास रहता हूँ तो इस पर सोचता हूँ, दुख-दर्द झेलने से अच्छी है मृत्यु, यह तो प्राकृतिक प्रक्रिया है, कुछ लोग सोचते है पर मैं नहीं, मैंने कब्रिस्तान में अपने लिए स्थान सुरक्षित करा लिया है, मेरे लिए सुखद मुक्ति होगी, हाँ सोचता हूँ...आखिर दुसरो के लिए हमें स्थान जो

---

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-६१

बनाना है, क्या सोचें... लोग तो मर ही रहे हैं, मृत्यु तो जीवन अगली कड़ी है, राजा हो या रंक सभी को जाना है, जबसे मैं यहाँ आया हूँ तबसे सोचने लगा हूँ।"[1]

सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि वृद्धावस्था में वृद्धजनों की कामनाएँ समय के अनुसार घटती जाती है और उनकी अभिलाषाएँ भावी पीढ़ी पर केंद्रित होती जाती है। इन वृद्धजनों की अपनी भावी पीढ़ी, संतान से क्या चाहिए थोड़ा सा प्रेम, आदर, सम्मान, भरण-पोषण और संरक्षण। लेकिन इसके बदले में वे अपने बच्चों को अपने जीवन भर का अनुभव और ज्ञान भी देते है। जो उनके अपने निकट भविष्य में अत्यंत लाभदायक सिद्ध होने वाला है और यदि आज की युवापीढ़ी ऐसा उनके साथ नहीं करती तो उन्हें समझ लेना चाहिए भविष्य में जो भी समस्याएँ हैं वह और भी मुश्किल होने वाली है।

ब. परनिर्भरता

मनुष्य जीवन की बड़ी विचित्र विडम्बना है कि वह पूरा जीवन स्वयं को खपाकर, धन संचय कर बुढ़ापे को सुरक्षित करना चाहता है। लेकिन घर-गृहस्थी की आवश्यकताओं और जरूरतों को पूरा करने के कारण वह असफल हो जाता है। जिसके कारण बुढ़ापे को सुखद बनाने का उसका स्वप्न टूटकर छिन्न-भिन्न हो जाता है। जैसे-जैसे यह वृद्धजन जर्ज़र बुढ़ापे की ओर बढ़ते जाते है वैसे-वैसे इन वृद्धजनों को हताशा और निराशा हाथ लगती है। जिन वृद्धों के पास पहले से धन-दौलत, संपत्ति पर्याप्त मात्रा में होती है उन वृद्धजनों को किसी विशेष समस्या का सामना नहीं करना पड़ता है। समस्या तो उन वृद्धजनों की है, जिनके पास बिलकुल भी संपत्ति नहीं है, आय का कोई जरिया तक नहीं है। उन वृद्धों का समय न जाने कैसी-कैसी यातनाओं के सहारे गुजरता होगा। ऐसी परिस्थिति में यह वृद्धजन दूसरों पर आश्रित हो जाते है। चाहे वह खुद के बेटे-बेटी ही क्यों न हो। वह भी अपनी जबान के तीक्ष्ण बाणों से उनके मन को आहत कर देते है। इन वृद्धजनों के पास भी इनकी

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-७२

बातों को सुनने और सहने के अलावा दूसरा कोई रास्ता नहीं होता है जिसके सहारे वह अपने बुढ़ापे की जिंदगी बिता सके। इस संदर्भ में विमला लाल लिखती हैं किः "बुढ़ापे की क्षत-विक्षत गरिमा, अपने जाए बेटे-बेटियों से नज़रें चुराती, उनकी आँखों में उफनती तिरस्कार की लौ से बचने के लिए पिछले दरवाजे से निकल जाने की राह तलाशने लगती है- सिर छिपाने के लिए कोई ऐसा कोना-अंतरा, जहाँ समेटकर वह अपने अंत की प्रतीक्षा कर सके। फिर भी जो बचकर कहीं नहीं निकल पाते, वे अपनी अस्तित्वहीन-सी बेचारगी को छिपाने के लिए अपने ही झुके कंधों पर बोझा लादे, उसी घर के किसी कोने में अपने को छिपकर किसी तरह जीवन अंतिम घड़ियों को काटने की बेबश कोशिश करते रहते हैं..."[1]

वृद्ध माता-पिता को सबसे अधिक दुःख उस समय होता है जब उनकी जाए बच्चें उनसे यह कहते हैं कि आपने हमारे लिए किया ही क्या है। पढ़ाया-लिखाया, स्कूल-कॉलेज की फीस दी यही सब न। यह सब तो प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चों के लिए करता है। यह आपने कोई नया तो नहीं किया है। आपने भी अपना माता-पिता होने का फर्ज ही अदा किया है। वहीं दूसरी ओर माता-पिता भी अपने पूरे जीवन के हवन में तुम्हे पालने- पोसने, पढ़ाने-लिखाने और इस लायक बनाने में लगा देते हैं कि इज्जत से जीवन बिता सके। आज संक्रमण के इस दौर में क्रमशः रिश्तों और कर्तव्यों की पहचान रुपये-पैसे और अधिकार से होती है। आज का युवा वर्ग यह भूल जाता है कि यह हमारे माता-पिता है जिन्हे उम्र के इस दौर में हम उन्हें बेबश और लाचार कर रहे है। विमला लाल लिखती हैं किः "आज तो सारी स्थापनाएँ ही बदल चुकी हैं- माँ की ममता, पिता के दुलार और पुत्रों के कर्तव्य ने आज रूप बदलकर अधिकार का रूप धारण कर लिया है। अब सारे रिश्ते अधिकारों की रस्सी से नापे जाते हैं- माता-पिता आज दिन-रात यह चिल्लाते नहीं थकते कि हमने तुम्हे पाल-पोसकर, पढ़ा-लिखाकर इतना बड़ा कर दिया, पर आज तुम हमें क्या देते हो?

---

[1] वृद्धावस्था का सच, पृ.६१

और बेटा गुर्राता है- 'तो तुमने कोई एहसान नहीं किया था हम पर...मां- बाप के रूप में अपना कर्तव्य ही निभाया था ! हम भी....' "[1]

प्रत्येक माता-पिता यह सोचते है कि उनके द्वारा सींचे गए अपने बच्चें एक दिन बुढ़ापे में उनका सहारा बनेंगे। उनकी सेवा, सुरक्षा से उनका बुढ़ापा सवारेंगे लेकिन समय का चक्र ऐसा घूमा कि जिसमें सब कुछ बदल गया। उनके अपने बच्चें बुढ़ापे में उनका सहारा तो नहीं बने बल्कि उन्हें ही उनके अपने ही घर से निकालने के लिए तरह तरह के षड़यन्त्र रचने लगे है। आज का युवा वर्ग सोचता है जब तक वृद्ध घर में रहेंगे तब तक उन्हें सुकून नहीं मिलेगा। एक ओर घर की जरूरतों को पूरा करने के लिए उन्हें दफ्तरों में बैल तरह काम करना पड़ता है और जब थक-हार के वापिस आओ तो इनका रोना सुनो या इनकी दखलः यह मत करो, वह मत करो, ऐसे करो, वैसे करो। आज की युवा पीढ़ी को अपने बड़े बुजुर्गो की बातें बिलकुल पसंद नहीं है। वे कतई नहीं चाहते है कि कोई भी उनके व्यक्तिगत जीवन में झाँके। यह बात घर बड़े-बुज़ुर्ग भी अच्छी तरह से जानते है इसलिए वह अब चुपचाप रहकर उनकी सरपरस्ती में शेष जीवन बिताने को मजबूर है। विमला लाल लिखती हैं किः "कभी घर-परिवार की संचालन करने वाले, हमारी गहन आस्था के अधिकारी रहे वृद्धजनों की आज घोर दुर्गति हो रही है। वृद्ध माता-पिता के लिए आज के परिवार के पास एक चारपाई-भर के लिए जगह निकलना मुश्किल हो गया है। और इस संदर्भ में स्पष्टीकरण के रूप बड़ा ही 'तर्क-संगत-सा' सीधा-सरल कारण नई पीढ़ी की जबान पर धरा-धराया मिल जाएगा- 'हम जिस छोटे-से घर में रहते है उसमे इनके पसरने के लिए जगह आखिर कहां से निकाले?' अथवा-'मैं ही नहीं मेरी बीबी भी पूरा दिन तो दफ्तर में खटकर आते हैं...फिर भी

[1] वृद्धावस्था का सच, पृ.-५२

एक पल को चैन नहीं। वहाँ से आकर सही शाम से आधी रात तक घर में इनकी खट-खट,बड़-बड़ कहां तक बरदाश्त करें...नित्य एक ही रोना... आखिर हमारी भी जिंदगी ही क्या रह गई है कि...।"[1]

समाज में कुछ लोग ऐसे होते है जो अपने माता-पिता को प्रत्यक्ष रूप से तो कुछ नहीं कहते है लेकिन उन परिवारों में भी वृद्धों की स्थिति कुछ ठीक नहीं है, वहाँ भी उनकी स्थिति एक शोषित याचक की भाँति है। इन परिवारों के बेटे-बहू सबके सामने तो सुशिक्षित,आदर्श बहू-बेटे बनते है लेकिन घर की चारदीवारी के भीतर यह लोग अपने बड़े-बुजुर्गों पर ऐसे नुकीले कटु बाणों की श्रृंखला छोड़ते है जिससे इनका तन-मन सब कुछ झुलसकर राख़ हो जाता है। ऐसी स्थिति में उन्हें दो वक्त की रूखी सूखी रोटी भी गले से उतारना मुश्किल हो जाता है। वृद्धजन उम्र के इस दौर में विवशतापूर्वक सिर झुकाये जीने को मजबूर देखे जाते है। विमला लाल लिखती हैः "जो लोग जरा शर्म-हया दर्शाते हुए आमने-सामने सीधे मुँह नहीं खोलते, उनके यहाँ भी बूढ़े, असमर्थ मां-बाप की दशा किसी असहाय दीन याचक से ज्यादा कुछ नहीं होती। बेटे-बहू की नफरत से भरी, जलती-कोसती हुई कुटिल दृष्टि हर पल असमर्थ माता-पिता को छेद-छेदकर उनके भीतर इस कदर घाव करती है कि अक्सर नमक के साथ थाली में पटकी गई दो रूखी-सूखी रोटियों को गले से उतार पाना उनके लिए भारी हो जाता है।"[2]

वृद्धावस्था में वृद्धजनों का किसी प्रकार से आय का स्रोत का न होना इसके अतिरिक्त पति-पत्नी में से किसी का गुजर जाना या किसी अन्य कारणवश एक-दूसरे से अलग हो जाने की स्थिति में वह अपने मन की बात किसी से नहीं कह पाते है। उम्र की इस सीमा में इन बुज़ुर्गो का दुख-दर्द केवल वृद्ध दम्पति ही आपस में समझ सकते है। दोनों ही अपने मन की बात सहजता से एक-दूसरे के सामने रख सकते है। यदि इनमे से कोई एक बिझुड़ जाये तो उनका जीवन नरकीय हो जाता है। सिमोन द बउआ लिखती हैं किः "अधिकतर वृद्ध अपने

---

[1] वृद्धावस्था का सच, पृ.-५०

[2] वही, पृ.-५१

टूटते अहं, निराश भविष्य और उदासीन जीवन से चिड़चिड़े हो जाते हैं। यह चिड़चिड़ापन वृद्धावस्था में उस समय प्रथम बार प्रकट होता है जब जीवन में कोई हादसा हो जाता है ; जैसे किसी निकट संबंधी की मृत्यु, जुदाई स्थानांतरण। तब उसे जीवन दूभर लगने लगता है और उस अवसाद की स्थिति से उबर नहीं पाता।”[1]

यह बात लगभग सौ प्रतिशत सही है कि इन वृद्धजनों के पास गहन अनुभव और निर्णय लेने की अचूक क्षमता हैं जो आज की युवापीढ़ी के पास नहीं है। युवापीढ़ी किसी भी वस्तु के पीछे आँख बंद करके दौड़ते है। वह वस्तु का सम्पूर्ण मूल्यांकन नहीं करते है जबकि हमारे अपने बुजुर्गो की खास बात है जब तक वह किसी भी वस्तु, व्यक्ति के विषय में सम्पूर्ण जानकारी लेकर संतुष्ट नहीं हो जाते है तब तक कोई निर्णय नहीं लेते है। किन्तु वृद्धावस्था में उनकी यह क्षमताएँ कम होने लगती है और उन्हें अन्यों पर आश्रित होना पड़ता है। जिससे उनका मन कुंठित हो जाता है। यदि आज की युवापीढ़ी वृद्धजनों को प्रेमपूर्वक, सुरक्षित संरक्षण प्रदान करे तो वृद्धजन हमारे लिए अति ही शुभ और सामजंस्य का उदाहरण प्रस्तुत करेंगें।

स. मूल्य परिवर्तन

भारतीय समाज में बड़े-बुजुर्गों की सेवा करना व्यक्ति का उच्च एवं उद्दात जीवन मूल्य माना जाता है। कुछ वर्षों पूर्व भारतीय परिवारों में प्रत्येक व्यक्ति, परिवार के प्रति अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को भली-भाँति से समझता था और उनका निर्वाह भी करता था। जिसके प्रत्येक वृद्ध को यह विश्वास था कि उनका बुढ़ापा सुरक्षित, सेवायुक्त एवं सम्मानपूर्वक व्यतीत होगा। किन्तु इधर कुछ वर्षो से युवा वर्ग पर पाश्चात्य सभ्यता का ऐसा भूत चढ़ा जिससे वह अपने प्राचीन मूल्य, मान्यताएँ, आचार-व्यवहार सब कुछ भूल गया। पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण ने उनके रहन-सहन, खान-पान में परिवर्तन तो किया ही उसके साथ ही उनके जीवन मूल्यों, आचार-व्यवहार, संस्कृति एवं परम्पराओं को भी परवर्तित कर दिया है। आमतौर पर अब समाज में

---

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-८२

ऐसा देखने को मिलता है कि घर के वृद्ध माता-पिता की देखभाल, सेवा, सुरक्षा एवं संरक्षण का दायित्व परिवार के एक ही व्यक्ति को दिया जाता है चाहे वह घर का बड़ा बेटी-बेटा हो या छोटा बेटा। बीते कुछ समय से परिवार के बच्चों ने एक नई परम्परा ने जन्म दिया है। परम्परा कुछ ऐसी है कि यदि घर में बुज़ुर्ग़ दंपति के दो लड़के है तो बड़ा बेटा और छोटा बेटा क्रमशः छः छः महीने अपने पास रखेगा या पिता को बड़ा बेटा और माँ को छोटा बेटा रखेगा जो समयानुसार क्रमशः आपस में बदल लेंगे और युवापीढ़ी पुरे समाज कहती फिरती है कि हम अपने माता-पिता को अपने साथ रखते है लेकिन वास्तव में न तो उनकी सुरक्षित देखभाल करते है बल्कि उनको आपस में बाँटकर उनको निर्मम दर्द देते है। जिसे वे न समझते है और न समझने की कोशिश करते है।

आमतौर पर समाज में ऐसी घटनाएँ देखने को मिलती है कि जो लोग अपने जीते जी या किसी मज़बूरी के कारणवश अपनी धन-सम्पति को अपने बच्चों के नाम कर देते है, उन्हें उनके अपने बच्चें ही वृद्धावस्था में तरह- तरह की यातनाएँ देते है। जिसके कारण वृद्धजन वृद्धावस्था में एक-एक पैसे के लिए अपने आश्रितों का मुँह ताकते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में इन वृद्धजनों को सबसे अधिक दुख इस बात का होता है कि इनके द्वारा कमाई हुई धन-सम्पति में से ही चंद रुपए पैसो के लिये अपने बेटों-बेटियों एवं बहूओं से तरह-तरह के ताने सुनने को मिलते है। जिससे इन वृद्धजनों का मन शंकालु हो जाता है और अपने को असुरक्षित एवं असहाय की अनुभूति करने लगते हैं। सिमोन द बउआ लिखती हैः “१८६६ से १८७० के बीच कराए गए एक सर्वेक्षण के बाद अधिकारी पॉल तूरोट ने वृद्धों को सुझाव दिया के जीते जी वे अपनी संपत्ति संतान के नाम न करें। इस तरह वे अपने जीवन की सुरक्षा कर पाएँगे।”[1]

बदलते हुए मूल्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश करना भी वृद्धजनों की मानसिकता का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। क्योंकि यह लोग अपने युवावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक भिन्न-भिन्न भूमिकाओं

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-३९

का निर्वाह करते हुए इस अवस्था तक पहुँचे है। जो बढ़ती उम्र के साथ तत्वात्मक और रीतिगत रूप में बदल जाती है यही कारण के उनके अनुभवों के अनुसार उनकी बदलती रहती है। इस संदर्भ में अरुण.पी.वाली ने वागर्थ पत्रिका में लिखा हैः "काम में अवकाश ग्रहण करना पड़ता है। पति या पत्नी की मृत्यु हो जाती है। कुछ लोग अवकाश प्राप्ति या वैधव्य के कारण अपनी महतवपूर्ण भूमिका खो देते है और इसकी भरपाई वह कैसे करें इसका उन्हें पता नहीं होता।"[1]

आज की पीढ़ी में ममत्व, अपनापन और आस्था के भाव जैसे धीरे-धीरे समाप्त हो रहे है। आज की युवापीढ़ी इतनी स्वार्थी और मतलबी हो गयी है कि उसे अपने और अपने स्वार्थ के अलावा समाज में कुछ दिखाई नहीं देता है। उसने मानवता जैसे मूल्यों को खुटी पर टांग दिए है। जिससे उनका कुछ वास्ता नहीं है। उनके समक्ष कौन जी रहा? कौन मर रहा? उससे उनको कोई मतलब नहीं है। ऐसी परिस्थिति में वृद्धजन पहले से ही अकेलेपन को झेलने के आदी हो चुके है। लेकिन इस अवस्था में वृद्ध अपने दुर्दशा को समाज के सामने लाकर रखना चाहते है और वह समाज को बताना चाहते है कि बुढ़ापा प्रेम, ममता बिना मृत्यु से भी अधिक भयाभह और हृदय को कचोट देने वाला होता है। सिमोन द बउआ लिखती हैं किः "जीवन में वृद्धवस्था के कष्ट झेलना मनुष्य की नियति है। राजनीति व सामाजिक कारणों से वृद्धावस्था की अलग पहचान बनी है। यह एक वास्तविकता है कि वृद्धावस्था को कष्टदायी और दुख़द माना जाता है। इसे मृत्यु से अधिक भीतिकर दृष्टि से देखा जाता है। जीवन के इस संग्राम में धन, वैभव, ख्याति सब कुछ पाने के बाद भी कई बार यह सोच वृद्धवस्था में उभरते देखी गई है कि 'यह सब कुछ किस लिए किया?"[2] इसमें कोई संदेह नहीं है कि पिछले कुछ दशकों में मानव जाति ने विकास के जितने सोपान पार किए है उससे मनुष्य की औसत आयु पहले की तुलना में काफी बढ़ी है लेकिन मनुष्य को एक निश्चित आयु सीमा के बाद एक न एक दिन वृद्धावस्था में पदार्पण

[1] वागर्थ, पृ.-१४

[2] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-९३

करना पड़ता है। जिसमें वह अपेक्षा रखता है कि उसका शेष जीवन शांतिपूर्वक व्यतीत हो लेकिन वर्तमान परिस्थितियाँ इतनी बदल चुकी है जिनमें वृद्ध सामाजिक सम्मान, आदर, सुरक्षा के स्थान पर उपेक्षा, निरादर, हिंसा, उत्पीड़न एवं असुरक्षित जीवन जीने के लिए विवश है इसका मुख्य कारण है मूल्यों की अवेलहना। वह मूल्य नैतिकता जिसका पाठ हमारे वृद्धजन हमें पढ़ाते थे आज उन्हीं मूल्यों की अवमानना की जा रही ही है जो कदापि उचित नहीं है।

औद्योगिकरण और पूंजीवादी संस्कृति ने बेटे और पिता के बीच के संबंधो को बदल दिया है। दिन-प्रतिदिन बढ़ते इस प्रतिस्पर्धात्मक युग में मूल्य बदलते जा रहे है। गाँव व छोटे शहर के युवा लोग पैसे कमाने के लोभ में आकर अपने परिवार को छोड़ कर महानगरों की ओर भाग रहे हैं। अपने वृद्ध माता-पिता को वहीं छोड़ शहर में बस जाते हैं। समय बीतने पर वहीं अपनी पसंद से किसी लड़की से विवाह कर लेते है और अपने माता-पिता को बुलाते तक नहीं है, उनसे पूछने की जहमत उठाना तो बहुत बड़ी बात है। जब माता-पिता को पता चलता है कि इनके बेटे-बेटियों ने अपनी इच्छानुसार विवाह कर लिया है तो वह आश्चर्यचकित हो जाते हैं। इन बेचारे माता-पिता ने अपने बच्चों की शादी के लिए क्या-क्या सपने सजोयें होंगे लेकिन इनके खुद के बच्चों ने उनका मूल्य एवं महत्व न समझते हुए उन्हें पराएपन का बोध करा दिया।

प्रायः यह देखा जाता है कि वृद्धजन घर, परिवार, समाज में अपनी पुरानी प्रतिष्ठा वृद्धावस्था में भी कायम रखना चाहते हैं जो उनके युवावस्था में हुआ करती थी। वहीं दूसरी ओर आज के बच्चें यह चाहते है कि घर-परिवार में अब इनका हुक्म न चला करके घर को चलाने की बागडोर अब हम नौजवानों के हाथों में सौंप दी जाएं। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर दोनों पीढ़ियों में टकराहट देखने को मिलने लगती है। वहीं वृद्धजनों को ऐसा लगता है कि उनका तिरष्कार, अपमान, अनास्था और अनाचार किया जा रहा है। युवा पीढ़ी को ऐसा प्रतीति होता है कि उन पर जबदस्ती करके बोझा ढुलवाने की कोशिश की जा रही है। इससे तो किसी का कुछ बनता बिगड़ता नहीं है लेकिन रिश्तों की गरिमा टूटकर जरूर पानी-पानी हो जाती है। बुढ़ापे में शारीरिक शक्ति तो वैसे ही कम हो जाती है, अब बची आर्थिक शक्ति। घर-परिवार में जिसके पास धन-सम्पदा है, उसका

ज्यादा वर्चस्व होगा। उम्र इस पड़ाव में अधिकाँश लोगों की जेब लगभग खाली होती है विशेषतः मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय परिवारों के बुजुर्गो की। किन्तु जो उच्च वर्ग के वृद्ध होते है उन्हें आर्थिक रूप से रुपयों-पैसों की कोई विशेष चिंता नहीं होती है। जिससे वह अंत समय में अपनी बात का पालन करवा लेते है लेकिन सबसे बड़ी समस्या तो मध्य वर्ग और निम्न वर्ग की है जिनकी उपेक्षा कर घर परिवार के युवा लड़के-लड़की अपनी मन मर्जी चलाने लगते हैं। जिससे यह वृद्धजन बहुत आहत होकर शंकालु, जिद्दी और हठी होने लगते है जिसके परिणामस्वरुप घर की हर छोटी-छोटी बातों पर कलह होना शुरू हो जाता है।

अगर गहनता के साथ सोच-विचार किया जाए तो वृद्ध अपने अनुभव से युवा पीढ़ी का मार्गदर्शन करते हुए उनकी कार्यप्रणाली को सही दिशा में परिवर्तित सकते है। इसके साथ ही युवापीढ़ी उन्हें अपनी क्षमताओं एवं सपनों का प्रकाशपुंज मानकर एक नई परम्परा की शुरूआत कर सकते है। ऐसा अनुभव किया जा सकता है कि थोड़े से प्रयास में समय रहते ही वृद्धजन अपने को बेसहारा, एकाकी, असुरक्षा के भाव से मुक्त हो जायँगे। अपितु नई पीढ़ी भी उनके मार्गदर्शन में सही राह पर अग्रसर होगी और वे पथभृष्ट होने से बच जाएँगे।

द. पुनर्वास

भारत की परम्परागत संस्कृति के अनुसार मनुष्य जीवन अवधि अनुमानतः सौ वर्ष मानी गई है। आश्रम व्यवस्था में मनुष्य जीवन को चार भागों में इस प्रकार विभाजित किया गया है जिसमें वह पहले ज्ञान की करता है फिर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर संसार की वास्तविकताओं को अनुभव करता है। उसके उपरांत सांसारिक मोह-माया से विरक्त होकर ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करता हुआ अंत में सत्य को प्राप्त करता है। जब हम मनुष्य जीवन की चर्चा करते है तो उसमे बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और अंत में वृद्धावस्था आती है। प्राचीनकाल में प्रौढ़ावस्था के उपरांत मनुष्य सांसारिक झंझटों और मोह-माया से मुक्त होकर सन्यासी का जीवन बिताते है। किन्तु इसके विपरीत आज के वृद्धों में धन सम्पदा और बच्चों का मोह इतना होता है कि उनको इस उम्र में घर छोड़ना मुश्किल लगता है। यदि कोई व्यक्ति यदा-कदा घर छोड़कर वानप्रस्थ और सन्यासी जीवन ग्रहण करता है तो उसे रूढ़िवादी संस्कृति से ग्रसित समझा जाता है। यदि मोटे तौर पर यह समझने का प्रयास करें कि प्राचीन

काल में वानप्रस्थ जीवन को बिताने के लिए घर के वृद्ध अपनी इच्छानुसार जाते थे लेकिन आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखे तो घर के बुजुर्गो को, घर के बच्चें तिरष्कार, अपमान, अनाचार कर जबरदस्ती वृद्धाश्रमों में धकेल देते हैं। "आज के-सी विकृत परिवेश में तिरस्कृत, लांछित, गृह-निष्कासन और उस युग के स्वैच्छिक, सम्मानित प्रस्थान में उतना ही अंतर है जो आज की कथित आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के बीच है। वानप्रस्थ की परंपरा भारतीय जीवन-प्रणाली की एक अत्यंत सुसंस्कृत परंपरा थी। आज का वृद्धाश्रम निरंतर पतनशील, स्वार्थ से रंगी, तिरस्कारजनक संस्कृति की आहत कर देने वाली व्यवस्था है जो निष्कासन जैसी घिनौनी प्रकिया को प्रश्रय देती है। वानप्रस्थ में स्वेच्छा से प्रयाण करके व्यक्ति लोभ-लालसा, स्वार्थ की रही-सही आशंका पर भी विजय प्राप्त करके, दृढ़ मनोबल के साथ आत्म-कल्याण के लिए रत रहता था। वासनाओं से ऊपर उठकर वहाँ भी वह ऐसे कार्य करता था जो समाज के लिए हितकारी सिद्ध होते थे, जबकि आज के वृद्धश्रम के साथ युवा पीढ़ी और प्रायः आधुनिक गृहिणियों और निस्संदेह अकसर वृद्धों की अपनी ही स्वार्थी मनोवृत्ति लोलुपता और इच्छाओं-वासनाओं का स्पष्ट दबाव दिखाई पड़ता है, जो अंततः निर्बल होते वृद्ध की असहायता बेचारगी के कारण सबसे अधिक उसी को प्रभावित करता है। अर्थात् पराजय उसी की होती है और इस विकट स्थिति से बचकर निकल पाने के लिए वह कुछ भी नहीं कर पाता। दोष चाहे किसी का भी हो, दंड उसे ही भुगतना होता है!"[1]

जिन माता-पिता ने अपना घर बड़ी सिद्धत और मेहनत से बनाया और बच्चों की जरूरतों को पूरा करते हुए उन्हें पढ़ा-लिखा कर इस काबिल बनाया कि बुढ़ापे में वे उनका सहारा बन सके। किन्तु तत्कालीन परिस्थिति बिलकुल उलटी दिखती है। आज उनके बच्चें उन्हें बात-बात पर यह उलाहना देते है कि आपने अपने जीवन में किया ही क्या है, आपके समय में न किसी बात की प्रतिस्पर्धा थी,न भविष्य की चिंता। उनके

[1] वृद्धावस्था का सच, पृ.-३१

अपने बच्चें ही उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से उनके बुढ़ापे का मज़ाक उड़ाते है। बातों बातों में यह कहकर अहसास करना चाहते है कि आपका बुढ़ापा हम ढ़ो रहे है। ऐसी परिस्थिति में इन वृद्धजनों को अपने असहाय और बच्चों के एहसान तले दबा हुआ समझते है। जिसका गहरा आघात इन वृद्धजनों को होता है जिसके कारण इनको अपने बच्चें ही पराए लगने लगते है। "अपने बेटों, बहुओं या पोतों के एहसान का एहसास करे उसका बोझ ढ़ोते-ढ़ोते बेचारे वृद्ध इस कदर झुक जाते है कि अकसर यह भूल ही जाते है कि कभी उनकी कमर भी सीधी थी और वह सीना तानकर जीवन के लिए संघर्ष करने में रत रहते थे। और अपने पुरुषार्थ के बल पर उन्होंने बहुत कुछ रचा-सिरजा था, जो उनका अपना था! वही सब आज दूसरो का हो गया है और अपना कहने को कुछ नहीं रहा-अपने बेटे-बहू तक सभी पराए हो गए।"[1]

व्यक्ति अपने जीवन के तीस-चालीस वर्ष घर-परिवार से दूर रहकर उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करता है और जब वह सेवानिवृत होकर अपने पड़ाव की और अग्रसर होता है तब उसके मन में तरह-तरह के प्रश्न खड़े होने लगते है कि अब वह सेवानिवृत होकर क्या करेगा। घर में बिना काम काज के समय कैसे गुजरेगा? बिना पैसे रुपए के बच्चे वही इज्जत करेंगे? या जोर जबरन वृद्धाश्रम में भेज देंगें। जिसके कारण बुजुर्गो के मन पुनर्वास और असुरक्षा का भाव आने लगता है।" सेवानिवृत्ति का प्रभाव अलग-अलग वर्ग के लोगों पर अलग-अलग ढंग से पड़ता है। यदि कोई अधिकारी सेवानिवृत्त होता है तो उसे तो उसे ऐसा लगता है जैसे उसका अस्तित्व ही मिट गया हो। कुर्सी की सत्ता को छोड़ने पर उसे जीवन बिना चप्पू की नाव प्रतीत होता है। मजदूर जब सेवानिवृत्त होता है तो उसे धनाभाव की चिंता सताती है। यद्यपि वह इस बात पर राहत की सांस लेता है कि उसे अब कठिन परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। दोनों का अलग दृष्टिकोण होता है। एक सत्ता के चले जाने से

---

[1] वृद्धावस्था का सच, पृ.-५५

उदास है तो दूसरा धनाभाव, पर दोनों के मन में एक ही बात चुभती है- अब उन्हें कौन पूछेगा! सत्ता नहीं तो पूछ नहीं, पैसे नहीं तो पूछ नहीं।"[1]

जो वृद्ध कल तक भरे पूरे घर का मालिक हुआ करता था, आज उसी घर पर उनके बेटें-बहुओं ने अपना कब्ज़ा कर लिया है क्योंकि अब वह फालतू की वस्तु हो गए हैं। जिन्हे अब युवावर्ग अपनी सहनशीलता के बाहर समझता है। सेवानिवृति के उपरांत जो पैंशन इन वृद्धजनों की आती है। वह उनकी दवा-दारू के लिए भी पर्याप्त नहीं होती है जिससे युवा वर्ग उन्हें अपना इंतजाम खुद करने के लिए कह देते है जिससे कारण यह वृद्धजन अपने लिए वृद्धाश्रम में आश्रय खोजने लगते है। " बुढ़ापे की यह दास्तान आए दिन वृद्धाश्रमों की चौखट पर खड़े लाचार बूढ़ों की जबान से कभी सुनी जा सकती है। यहाँ तो तीन मंजिली कोठी के मालिक भी आश्रय खोजने आते है, क्योंकि उनकी कोठी के शानदार ड्राइंग रूम पर बहू-बेटे का कब्ज़ा हो चुका होता है। बूढ़े पैरों की धूल अब वहाँ बिछे कीमती कालीन की वक्त-बेवक्त गंदा करती-सी लगने लगी है! या फिर अब वह अपनी पेंशन की उंगलियों पर गिनी जा सकने वाली रकम के बल पर 'डटकर,बिना गिने जो रोटी पर रोटी डकारता चला जाता है, उसे आज की मंहगाई के जमाने में भला कोई परिवार झेल सकता है ?झेले भी तो कब तक ? यहां तो जैसे अमरता का रस पीकर आए हैं...ऊपर से हारी-बीमारी अलग! पेंशन तो एक बार की दवा-भर भी अटती...."[2]

वृद्धों में पुनर्वास की समस्या इस कदर बढ़ गयी है कि प्रत्येक शहर में वृद्धाश्रम खुल गए है। महानगरों में तो उनकी अनेक शाखाएँ तक खुल गयी है। जिससे इन वृद्धजनों को अपने बुढ़ापे में कोई परेशानी न हो लेकिन इन वृद्धजनों को यहाँ आकर भी एक समस्या घेरे रहती है। समस्या है कि यह पुरुष वृद्धजन ऊपरी तौर से यह दिखाने का प्रयास करते है कि वह यहाँ आपस में खुलकर घुल मिलकर रह रहे है। वस्तुतः वृद्धजन अपने

[1] वृद्धावस्था का सच, पृ.-६३

[2] वही, पृ.-६३

मन की पीड़ा को किसी के साथ साझा नहीं करते हैं जिसके कारण वृद्धजन अपने मन में ही घुटते रहते है। इनकी अपेक्षा महिलायें वृद्धाश्रमों में अपना सामंजस्य अच्छे प्रकार से बैठा लेती है। वह परस्पर एक-दूसरे से खुलकर बातचीत करके हँसती-बोलती है। यहाँ तक कि वह अपनी सुबह की दिनचर्या से लेकर खाने-पकाने तक की बातें कर लेती है जिससे कारण वृद्धाश्रम में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को कम समस्याओं का सामना करना पड़ता है। "जीवन के इस मोड़ पर स्त्री और पुरुष का दृष्टिकोण भी अलग हो जाता है। यह देखा गया है कि महिलाएँ साधारणतया वृद्धाश्रम के जीवन को भी आसानी से झेल लेती हैं। इसका कारण बताती हुई सिमोन कहती हैं कि वृद्धाश्रम के जीवन को महिलाएँ अधिक सफलता से अपना लेती हैं महिलाएँ आपस में हँस-बोल लेती हैं और साफ़-सफाई से लेकर पकाने तक के कामों से अपनी दिनचर्या बिता देती हैं। पुरुषों के लि0ए ऐसे कोई कार्य नहीं होते। वे दिन भर बिस्तर पर पड़े रहते हैं या जिनके पास कुछ पैसे है,वे शराब पीकर समय बिताते हैं।"[1] इन वृद्धाश्रम में महिलाओं को अपने बच्चों का स्मरण बार-बार आता है क्योंकि यह महिलाएँ परिवार में अपने नाती-पोतों से हमेशा घिरी रहती है और उनको खिलाने-पिलाने के कारण काम में व्यस्त रहती है। इसके अतिरिक्त जिन परिवारों की बहुएं बाहर दफ्तरों में काम करने जाती है उने घर की सास ही घर का सारा काम देखती है। इन संस्थाओं के नियम कानून भी कड़े होते है और वह यहाँ कोई भी काम नहीं कर सकती है। जिससे यह महिलायें टूटने लगती है। परिवार के बंधे लगाव के कारण इन महिलाओं को वृद्धाश्रम में मांनसिक कष्ट होता है। जिस कारण यह महिलायें अपने को उदास होने की स्थिति में महसूस करती है और इस स्थिति के कारण इन महिलाओं की मृत्यु वृद्धाश्रम में ही हो जाती है। "महिलाओं को इन संस्थाओ में सांमजस्य बिठाने कठिनाई इसलिए होती है कि वे परिवार में काम करने की आदी होती है और परिवारवालों से बंधे लगाव के कारण उन्हें मानसिक कष्ट होता है। इन संस्थाओ में आकर रहने वालो को ऐसा लगता है कि उन्हें जड़ से उखाड़ दिया गया हो। ऐसे मानसिक तनाव को झेलते हुए बहुत से वृद्ध एक वर्ष के भीतर ही मर जाते हैं। इन संस्थाओं

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-५०

के कानून भी कठोर होते हैं जिनके कारण उस आयु के लोग मानसिक तौर पर टूट जाते हैं। उनको सारा दिन समय बिताने में कठिनाई होती है और जीवन में शून्यता छा जाती है। सामजिक जीवन से दूर उदास और निरुद्देश्य जीवन उन्हें धीरे-धीरे मौत की ओर ले जाता है। उन्हें महसूस होने लगता है कि वे जीवंतता से दूर होते जा रहे हैं और भविष्य में उनके लिए मृत्यु के सिवाय कोई चारा नहीं है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार दिन-प्रतिदिन सामाजिक परिवर्तन हो रहे है उससे समाज में वृद्धजनों की स्थिति काफी चिंताजनक है। वर्तमान समय में सामजिक ढाँचों में परिवर्तन होने से बुजुर्गो को मानसिक परिवर्तन, परनिर्भरता, पुनर्वास और मूल्य परिवर्तन जैसी समस्याओ का सामना करना पड़ रहा है। जिसके कारण वह अपने को समाज के हाशिये पर जीवन बिताने को मजबूर हो रहे है। जिससे इन बुजुर्गो के मन में कुंठा, निराशा एवं हताशा का भाव आने लगता है। वृद्धावस्था विमर्श इन बुजुर्गो के प्रति घर, परिवार और समाज के व्यवहार और दृष्टिकोण को समझने का विमर्श है।

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-५०

द्वितीय अध्याय

साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध

साहित्य और समाज का परस्पर अभिन्न संबंध है। समाज के अभाव में साहित्य का सृजन नहीं किया जा सकता है। जिस प्रकार साहित्य के बिना समाज की कल्पना करना भी मुश्किल है। साहित्य समाज की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। उसी प्रकार सिनेमा भी समाज की अभिव्यक्ति करने एवं प्रभावित करने का सशक्त माध्यम है। साहित्य और सिनेमा दोनों कला के अलग-अलग स्वरूप है। इन दोनों में अंतर इस बात का है कि साहित्यकार अपनी भावनाओं, विचारों एवं अनुभवों को कलम के द्वारा कागज पर शब्दबद्ध करता है जिसे उसने अपने परिवेश एवं समाज के द्वारा प्राप्त किए थे। वहीं दूसरी ओर एक फिल्म निर्देशक को फिल्म के कला पक्ष के साथ-साथ उसका तकनीकी पक्ष को भी देखना होता है। फिल्म निर्देशक जब किसी फिल्म का निर्माण कर रहा होता है उस समय वह भी एक जोखिम भरी प्रक्रिया से गुजर रहा होता है। इस संदर्भ में मुकेश कुमार कांजिया ने लिखा है: "जो भी हो एक ही समाज में ही पलते है और समाज की आस-पास की प्रस्तुतियों से प्रभावित होकर, व्यथित होकर अपना संदर्भ व्यक्त करते हैं। साहित्यकार और दिग्दर्शक दोनों का धर्म है सामाजिक हितों की रक्षा करना। साहित्य और सिनेमा में जीवन उपयोगी उपदेश देने की शक्ति होती है।"[1]

साहित्य की अवधारणा

साहित्य की परिभाषा गढ़ने का प्रश्न पिछली कई शताब्दियों से चला आ रहा है। साहित्य शब्द संस्कृत भाषा का है। साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के सहित शब्द में यत् प्रत्यय के योग से हुई है। "साहित्य = सहित + यत् अर्थात साहित्य का अर्थ है उस शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव का साथ होना। इस प्रकार सार्थक शब्द मात्र का नाम साहित्य है।"[2]

साहित्य में किसी रचनात्मक व्यक्ति की अनुभूति, संवेदनाएँ, भावनाएँ एवं विचारों की श्रृंखलाबद्ध तरीके से अभिव्यक्ति होती है जिसे उसने अपने समाज के जीवनानुभवों से प्राप्त किया है। जिसको वह कलात्मक रूप से

[1] साहित्य और समाज, पृ.-32

[2] हिंदी साहित्यकोश, पृ.-

साहित्य की परिधि में लाकर समाज को प्रभावित करता है और स्वयं भी प्रभावित होता है। साहित्य की इस विशेषता का उल्लेख आचार्य नंददुलारे वाजपेई ने 'नया साहित्य नए प्रश्न निकष' में लिखा है: " साहित्य से हमारा आश्रय उन विशिष्ट और प्रतिनिधि रचनाओं से है। जो समाज और सामाजिक जीवन को भली या बुरी दशा में जाने की सामर्थ्य रखती है।"[1]

इसमें किसी प्रकार का कोई संदेह या शंका नहीं है कि साहित्य ने एक सीमा तक समाज को प्रभावित किया है। साहित्य अपने समाज की अनेक रूढ़ियों एवं कुप्रथाओं का विशेष रूप से विरोध कर उसे जड़ से उखाड़ने का भरसक प्रयास किया है। जिसमें वह में सफल हुआ है, इसमें कोई दोराय नहीं है। साहित्य भी समाज से प्रभावित होता है क्योंकि साहित्य ही समाज का प्रतिबिंब है तो भला साहित्य समाज से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकता है।

यह भी एक निर्विकार सत्य है कि साहित्य की पकड़ एवं समझ केवल एक शिक्षित वर्ग तक है। इसका मुख्य कारण है कि साहित्य का रसास्वादन करने के लिए पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता होती है और वह ज्ञान केवल एक वर्ग विशेष के पास है। जिसके कारण अनेक अशिक्षित लोग साहित्य को पढ़ नहीं पाते हैं किंतु जो अधिकांश अर्द्धशिक्षित जनता है, वह साहित्य को पढ़ लेती है लेकिन पर्याप्त ज्ञान के अभाव में उचित रूप से रसास्वादन नहीं कर पाते हैं। इस संदर्भ में जब अपनी दृष्टि सिनेमा की ओर ले जाते है तब ऐसा अनुभव करते हैं कि सिनेमा ने व्यापक जन समूह को अपनी ओर जोड़ने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। सिनेमा अपनी बात को बहुत सहजता, सरलता एवं सहृदयता के साथ लोगों के मन-मस्तिष्क में पहुँचा देता है। सिनेमा एकमात्र ऐसी कला है जो अपनी बात को शिक्षित, अर्द्धशिक्षित एवं निरक्षर व्यक्तियों को बिना किसी मानसिक दबाव के सहृदयता के साथ लोगों के मन-मस्तिष्क में प्रेषित कर लोगों को जोड़ता है। जिससे सभी शिक्षित, अर्द्धशिक्षित एवं निरक्षर लोग उचित ज्ञान से जुड़कर रसास्वादन करते है। सिनेमा के रसास्वादन के लिए दर्शकों को किसी तकनीकी एवं शास्त्रीय ज्ञान

[1] नया साहित्य :नए प्रश्न :निकष , पृ.-३

की आवश्यकता नहीं होती है। यहाँ तक कि उसे अक्षर ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं होती उसके लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि मात्र उसका सिनेमा उसकी अपनी मातृभाषा में हो।

सिनेमा की अवधारणा

सिनेमा १९ वीं सदी की विशेष उपलब्धि है। सिनेमा ने मानव जीवन को नई ऊर्जा एवं ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करते हुए समाज के प्रत्येक आयाम का स्पर्श किया है। फिर चाहे वह सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, पारिवारिक क्यों न हो। साहित्य की भाँति सिनेमा ने समाज के निर्माण में अपनी अहम भूमिका का निर्वाह किया है। वर्तमान समय में सिनेमा ही एकमात्र ऐसी कला है जिसकी चर्चा किए बिना अन्य कलाओं का आकलन नहीं किया जा सकता है। समकालीन समस्त कलाओं में सिनेमा अपने उत्कृष्टतम रूप में प्रस्फुटित होती है। सिनेमा के विषय में डॉक्टर 'मैनेजर पांडेय' ने अपनी पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में लिखा है: "आज कल कला की कोई भी चर्चा फिल्म को छोड़कर पूरी नहीं हो सकती। वह आज के युग की सर्वाधिक प्रभावशाली और प्रतिनिधि कला है। फिल्म के निर्माण में कला और विज्ञान, साधना और व्यवसाय, वैयक्तिक रचनाशीलता और सामाजिक प्रश्न का गहरा सामंजस्य होता है। फिल्म अनेक अर्थों में सामूहिक कला है उसमें अभिनेता, निर्देशक, कलाकार, फोटोग्राफर, संगीतकार, गायक, वादक, नर्तक और तकनीकी विशेषज्ञ का सामूहिक योगदान होता है।"[1]

सिनेमा ने जनसामान्य के अवचेतन जीवन को संबोधन और स्थिर भावों को गति प्रदान की है। भारत में सिनेमा मनोरंजन के साथ-साथ जीवन का एक अविभाज्य अंग बन गया है। छोटे बच्चों से लेकर युवा एवं वयोवृद्ध तक हर कोई सिनेमा का दीवाना है। आज के युवाओं में सिनेमा के कलाकारों को देखकर फैशन, चाल-ढाल, खान-पान एवं पहनावा का तेजी से प्रचलन होता दिखाई दे रहा है। सिनेमा ने समाज को मनोरंजन के साथ-साथ

[1] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका , पृ.-४०

युवाओं को जागृत करने एवं ज्ञानवर्धन करने का काम किया है। वह समाज में प्रचलित अनेकों प्रथाओं को पर्दे पर दिखलाते हुए लोगों के मन-मस्तिष्क में सही गलत का बोध करवाती है। इस संदर्भ में 'प्रसून सिन्हा' ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सिनेमा' में लिखा है: "सिनेमा वह सशक्त माध्यम है। जो अपने दर्शकों को किसी खास विषय वस्तु पर आधारित कथा को दिखाता है और मनोरंजन करते हुए दर्शकों के हृदय में गहरे उतर जाने की अभूतपूर्व क्षमता रखता है।"[1]

सिनेमा का समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव है। जिसके कारण वह समाज में जन जागरूकता के एक मुख्य उपकरण के रूप में प्रयोग किया जाता है। सिनेमा हमेशा से एक अच्छा मनोरंजन और ज्ञान का स्रोत रहा है। यह आपको आपकी समस्याओं के मूल में जाने व सोचने-समझने पर विवश करता है। जो कभी-कभी कल्पना की दुनिया में ले जाने के लिए मजबूर करता है जो कई बार लाभकारी और उपयोगी सिद्ध होता है।

साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध

साहित्य और सिनेमा का अटूट संबंध है। सिनेमा का आरंभ साहित्य से होता है फिर भी कई आलोचक लेखक इस बात को कतई स्वीकार नहीं करते हैं। यह कहना भी बिल्कुल अनुचित नहीं है कि साहित्य और सिनेमा एक-दूसरे के विचारों को विस्तृत करने एवं लोगों को समझाने में परस्पर योगदान देते हैं। इस संदर्भ में 'चंद्रकान्त मिसाल' ने अपनी पुस्तक 'सिनेमा और साहित्य के अंतसंबंध' में लिखा है: "सिनेमा ने साहित्य को आमजन तक पहुँचाया है या सिनेमा का छोटा-बड़ा पर्दा समाज के हर व्यक्ति तक पहुँचने का जरिया है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।"[2]

सिनेमा का साहित्य से संबंध होने के कारण साहित्य की तमाम विधाएँ यथा: कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी, आत्मकथा, यात्रावृतांत इत्यादि फिल्मों में रूपांतरित होकर समाज के सामने प्रस्तुत हो रही है। साहित्य

[1] भारतीय सिनेमा, पृ.-५६

[2] सिनेमा और साहित्य का अंतःसंबंध, पृ.-२4

को पढ़ने से सहृदयता की अनुभूति है वहीं सिनेमा देखने पर सहृदयता को छवि, रूप-रंग, हाव-भाव, चाल-ढाल, रहन-सहन एवं वेशभूषा हमारे सामने प्रस्तुत होकर कल्पनाओं के आवृत्त का रूप धारण करके साकार रूप से जीवन में परिवर्तित होती है।

साहित्य और सिनेमा कला के दो ऐसे क्षेत्र है जिन्होंने परस्पर एक-दूसरे के साथ हाथ से हाथ मिलाकर एक-दूसरे को मजबूत एवं सशक्त करने का कार्य किया है। साहित्य ने सिनेमा की नींव तैयार की है तो सिनेमा ने उसी नींव पर विचारों के भव्य मंदिर का निर्माण किया है। यदि साहित्य और सिनेमा दोनों एक-दूसरे के प्रति संतुलित होकर समाज एवं राष्ट्र के निर्माण में अपना योगदान करें तो समाज में सार्थक बदलाव आ सकता है जो भविष्य को सुखद एवं कल्याणकारी बना सकता है। फिल्मकार 'केतन मेहता' ने सिनेमा की सामाजिक भूमिका को पर कहा है: "सिनेमा ने समाज को दोनों तरह से प्रभावित किया है इसने लोगों को देखने और सोचने के लिए बाध्य किया है। सिनेमा, समाज की बहुत बड़ी शक्ति है परिवर्तन लगातार चलने वाली प्रक्रिया है। उसमें सिनेमा अपनी भागीदारी निभाता है, उसकी भागीदारी किस हद तक होती है यह निर्भर करता है समाज में परिवर्तन की गति पर। व्यवस्था को बदलते रहना चाहिए। जब भी कोई व्यवस्था स्थाई हो जाती है, वह बिगड़ने लगती है। कोई भी व्यवस्था हो, वह अनिवार्य रूप से आम लोगों के लिए काम नहीं करती इसलिए किसी भी व्यवस्था को ज्यों का त्यों स्वीकार करने के बजाय प्रश्न उठाना चाहिए, सिनेमा यह काम करता है। यही उसकी भागीदारी है।"[1]

सिनेमा के प्रभावकारिता के संदर्भ में 'विजय अग्रवाल' ने भी अपनी पुस्तक 'सिनेमा और समाज' में लिखा है: "साहित्य, सिनेमा के सामने एक आदर्श प्रस्तुत कर सकता है। उसमें वास्तविक यथार्थ का असर डाल सकता है तथा उसके उदात्त प्रभावों की संरचना के लिए प्रेरित कर सकता है। किसी भी कथानक के समीकरण का आयाम इतना विस्तृत होता है कि उसमें न केवल उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध और कविता की कथावस्तु ही समाहित हो सकती है, बल्कि इन साहित्यिक विधाओं के कला रूप जैसे भाषा, अलंकार योजना एवं प्रतीक को

[1]सिनेमा और साहित्य का अंतःसंबंध, पृ.-२९

भी बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है इसी प्रकार फिल्म चंद लोगों की ही अलमारियों में कैद साहित्य की पहुँच को बढ़ा सकती हैं।"[1]

साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध सिनेमा के इतिहास में मूक फिल्मों के युग से प्रारंभ हो गया था। सिनेमा के शैशवकाल में अमेरिकी फिल्म निर्देशक, लेखक और निर्माता 'डी.डब्ल्यू ग्रिफिथ' ने सन् १९१५ में 'टॉमस डिक्शन' के उपन्यास 'द कलेंसमैंनं' पर आधारित अपनी पहली फिल्म 'ए बर्थ ऑफ द नेशन' बनाई थी। इस फिल्म में ग्रिफिथ ने परिवार के त्रासद अनुभवों को व्यक्त किया है। जिसे उस परिवार ने गृह युद्ध के समय भोगा था। हालांकि यह उपन्यास उत्कृष्ट कोटि का नहीं है किंतु डी.डब्ल्यू ग्रिफिथ ने अपने रचनात्मक कला से फिल्म को विश्व सिनेमा की सर्वश्रेष्ठ फिल्म में रूपांतरित किया है। उस समय से लेकर आज तक यह फिल्म अपना गौरव स्थापित किए हुए है। इसके अतिरिक्त डी.डब्ल्यू ग्रिफिथ ने 'इंटालेंस' (१९१६), 'ब्रोकेन ब्लाजम' (१९१६), 'वे डाऊन ईस्ट' (१९२०) और 'ऑरफन्सऑफ दी स्टॉर्म' (१९२०) जैसी फिल्मों में डी.डब्ल्यू ग्रिफिथ को काफी प्रशंसा एवं ख्याति प्राप्त हुई। उन्होंने अपने समय में लगभग ५०० से अधिक छोटी एवं बड़ी (फुल लेंथ) फिल्मों का निर्माण किया। सन् १९३१ में 'द स्ट्रगल' उनकी अंतिम फिल्म थी।

भारतीय सिनेमा में अपने १०० वर्ष का सफर पूरा कर लिया है। इस सफर की शुरुआत करने वाले 'दादा साहब फाल्के' से कौन सुधिजन परिचित नहीं है। दादा साहब नें १९ साल के लंबे करियर में कुल १५ फिल्में और २७ लघु फिल्में बनाई। दादा साहब फाल्के ने अपनी पहली फिल्म १९१३ ई. में 'राजा हरिश्चंद्र' बनाई। जो मुंबई महानगर के कोरेशनल थिएटर में पहली बार ३ मई १९१३ ई. को दिखाई गई। इस फिल्म के उपरांत दादा साहब ने पौराणिक फिल्मों के रूप में 'मोहिनी भास्मासुर'(१९१३), 'सत्यवान सावित्री'(१९१४), 'लंका दहन'(१९१७), 'श्री कृष्ण जन्म'(१९१८), 'कलिया मर्दन'(१९१९), 'बुद्धदेव'(१९२३), 'बालाजी निम्बारकर'(१९२६), 'भक्त प्रहलाद'(१९२६), 'भक्त सुदामा'(१९२७), 'रूक्मिणी हरण'(१९२७), 'रुक्मांगदा मोहिनी'(१९२७), 'द्रौपदी

[1] समकालीन सर्जन, पृ.-२५

वस्त्रहरण'(१९२७), 'हनुमान जन्म'(१९२७), 'नल दमयंती'(१९२७), 'भक्त दामाजी'(१९२८), 'परशुराम' (१९२८), 'कुमारी मिल्ल्चे शुद्धिकरण'(१९२८), 'श्रीकृष्ण शिष्टई'(१९२८), 'काचा देवयानी'(१९२९), 'चन्द्रहास'(१९२९), 'मालती माधव'(१९२९), 'मालविकाग्निमित्र'(१९२९), 'वसंत सेना'(१९२९), 'बोलती तपेल'(१९२९), 'संत मीराबाई'(१९२९), 'त मीराबाई'(१९२९), 'कबीर कमल'(१९३०), 'सेतु बंधन'(१९३२) किंतु इन फिल्मों की मर्यादा यह थी कि यह फिल्में मूक फिल्में थी। सन् १९३१ में निर्देशक अर्देशिर ईरानी ने 'आलम आरा' नाम से प्रथम सवाक् फिल्म प्रस्तुत की। उसके बाद दादा साहब फाल्के द्वारा निर्देशित पहली बोलती फिल्म 'गंगावतरण'(१९३७) है।

सन् १९३१ में फरमाई गई 'आलम आरा' नामक सवाक् फिल्म लोगों को बहुत पसंद आई जिससे फिल्मों में तेजी से परिवर्तन आया। हिंदी सिनेमा की शुरुआत पौराणिक फिल्मों के साथ हुई जिसमें 'भक्त पहलाद', 'शिव महिमा','विष्णु अवतार','कालिया मर्दन','रामायण' आज बहुत चर्चित फिल्में आई। उसके बाद जनता का मन पौराणिक फिल्मों से हटकर सामाजिक समस्या पर केंद्रित होने लगा। जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक फिल्में बनना शुरू हुई। जिसमें 'जुगनू','मंथन','ज्वारभाटा','खानदान','नौकर','किस्मत','जमीन' आदि फिल्में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस दौर में जनता ने जितना सामाजिक समस्याओं पर आधारित फिल्मों को पसंद किया है। उतना ही इतिहास पर आधारित ऐतिहासिक फिल्मों को पसंद कर रहे थे। कहने का आशय है कि उस दौर में सामाजिक और ऐतिहासिक आधार पर फिल्में समानांतर रूप से बनाई जा रही थी। उसके पश्चात हिंदी सिनेमा में रोमानी दौर का प्रारंभ हुआ। जिसमें 'शोले','सनम','हसीना मान जाएगी','हम आपके हैं कौन','विवाह','कभी खुशी कभी गम','दिल दे चुके सनम','मैंने प्यार क्यों किया','नदिया के पार' इत्यादि फिल्मों का निर्माण हुआ। खैर पिछले कुछ दो-तीन दशकों से ऐतिहासिक, सांप्रदायिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं विमर्श पर आधारित फिल्मों का निर्माण किया जा रहा है। जो समाज पर अपना अद्भुत प्रभाव डाल रही है।

अनेकानेक हिंदी साहित्यकारों ने सिनेमा जगत में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। साहित्यिक जगत के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार, कहानीकार प्रेमचंद भी फिल्मी दुनिया से परे नहीं रहे है। सन् 1933 में प्रेमचंद जी ने मुंबई

में आकर फिल्मों के लिए कहानी लिखना शुरू कर दिया था। प्रेमचंद की कहानी पर 'मोहन भवनानी' के निर्देशन में 'मिल मजदूर' फिल्म का निर्माण हुआ, सन् १९३४ में उनके उपन्यास 'सेवासदन' पर 'नवजीवन' फिल्म बनी किंतु पर्दे पर अधिक समय तक ना चल सकी। प्रेमचंद के अतिरिक्त उपेंद्रनाथ अश्क व भगवतीचरण वर्मा भी फिल्मों के लिए लिखते रहे किंतु भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' के अतिरिक्त उनके साहित्य पर आधारित कोई भी फिल्म अधिक समय तक पर्दे पर नहीं टिक सकी। साहित्य पर आधारित फिल्में बाजार में असफल होने के कारण निर्माता और निर्देशक भी फिल्म बनाने से कतराने लगे। फिर भी कुछ निर्देशकों ने अपने मनोबल को दृढ़ करते हुए साहित्यिक उपन्यास, कहानी, नाटक आदि पर फिल्मों का सृजन किया किंतु उन्हें भी बाद में असफलता प्राप्त हुई। इस दौर के निर्देशकों ने 'आचार्य चतुरसेन शास्त्री' के उपन्यास पर 'धर्मपुत्र' फिल्म का निर्माण किया, 'चंद्रधर शर्मा गुलेरी' की कहानी 'उसने कहा था' पर इसी नाम से फिल्म का निर्माण हुआ। 'रेणु' की कहानी 'मारे गए गुलफाम' पर 'तीसरी कसम' फिल्म बनी लेकिन वह फिल्म भी असफलता का शिकार हुई। इस फिल्म के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस फिल्म को राष्ट्रीय सम्मान की प्राप्ति हुई है। 'राजेंद्रसिंह बेदी' की रचना पर 'एक चादर मैली सी' फिल्म का निर्माण हुआ है। 'भीष्म साहनी' के उपन्यास पर 'तमस' और 'अर्थ' फिल्म का निर्माण हुआ जिसका निर्देशन 'दीपा मेहता' ने किया यह दोनों फिल्में बाजार में बेहद सफल रही। 'धर्मवीर भारती' के उपन्यास 'सूरज का सातवा घोडा' और 'गुनाहों के देवता' पर फिल्मों का निर्माण हुआ जो बाजार में अच्छी चली इसका निर्देशन क्रमश से 'श्याम बेनेगल' और 'केवल शर्मा' ने किया। 'कमलेश्वर' की रचनाओं पर 'पति पत्नी और वो', 'डाक बंगला', 'एक सड़क 57 गलियां' जैसी फिल्मों का निर्माण हुआ। 'बी.आर चोपड़ा', 'गिरीश रंजन' और 'प्रेम कपूर' ने क्रमश से इन फिल्मों का निर्देशन किया था। 'कृष्णा सोबती' के उपन्यास 'जिंदगीनामा' पर 'ट्रेन टू पाकिस्तान' फिल्म का निर्माण हुआ। 'यशपाल जी' के उपन्यास 'झूठा सच' पर 'खामोश पानी' फिल्म 'सबीहा सुमेर' जी ने अपने निर्देशन में बनाई। 'अमृता प्रीतम' की रचनाओं पर आधारित 'ग़दर एक प्रेम कथा' एवं 'पिंजर' फिल्मों का निर्माण हुआ। 'मन्नू भंडारी' और 'राजेंद्र यादव' के उपन्यास 'सारा आकाश' पर 'बासु चटर्जी' ने इसी नाम से फिल्म का निर्माण किया। 'काशीनाथ सिंह'

के उपन्यास ‘काशी के अस्सी’ पर ‘मोहल्ला अस्सी’ नामक फिल्म का निर्माण हुआ जिसका निर्देशन ‘चंद्रप्रकाश द्विवेदी’ जी ने किया। ‘कृष्ण चंद्र’ के उपन्यास ‘पेशावर एक्सप्रेस’ पर ‘यश चोपड़ा’ ने ‘वीर जारा’ नाम से फिल्म का निर्माण किया इस फिल्म की सफलता ने हिंदी सिनेमा को चार चांद दिए। ‘केशव प्रसाद मिश्र’ के उपन्यास ‘कोहबर की शर्त’ पर ‘नदिया के पार’ फिल्म का निर्माण हुआ जो ‘गोविंद मुनिस’ के निर्देशन में बनी। इस फिल्म ने हिंदी सिनेमा के एक नए आयाम को स्पर्श किया, जो करोड़ों लोगों के दिल पर आज भी राज करती है। इसी प्रकार उपन्यास साहित्य और कहानी पर आधारित कई फिल्मों का निर्माण हुआ जो बेहद सफल और महत्वपूर्ण रही है।

सिनेमा में शुरू से साहित्य पर आधारित फिल्मों का निर्माण हुआ है। चाहे हिंदी साहित्य पर आधारित रहा हो या अन्य भारतीय भाषाओं पर आधारित हो। इतना ही नहीं भारतीय भाषाओं से इतर अन्य विदेशी भाषाओं एवं विदेशी साहित्य पर आधारित फिल्मों का निर्माण हुआ है। जहाँ एक ओर ‘शरतचंद्र’, ’रवींद्रनाथ ठाकुर’, ‘विमल राय’, ‘आर.के.नारायण’ और ‘चेतन भगत’ जैसे कई लेखकों की साहित्यिक रचनाओं पर आधारित फिल्मों का निर्माण हुआ है। वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी के ‘शेक्सपियर’, ‘रस्किन बॉन्ड’ जैसे कई विदेशी साहित्यकारों के साहित्य के आधार पर फिल्मों का निर्माण हुआ है। जिसे भारत में ही नहीं अपितु देश-विदेश में भी ख्याति प्राप्त हुई। ‘विशाल भारद्वाज’ के निर्देशन में ‘ओमकारा’ और ‘मकबूल’ जैसी फिल्मों का निर्माण हुआ जो अंग्रेजी के महान नाटककार ‘शेक्सपियर’ के ‘औथेलो’ और ‘मैकबैथ’ पर आधारित है। इसके अतिरिक्त ‘विशाल भारद्वाज’ ने ‘रस्किन बॉन्ड’ की कहानी ‘सुपैना सेवेन हसबैंड’ पर ‘सात खून माफ’ फिल्म का निर्माण किया है।

१९वीं सदी से लेकर अब तक साहित्य और सिनेमा का सम्बन्ध किसी ना किसी प्रकार से बना हुआ है। साहित्यिक रचनाओं को आधार बनाकर फिल्मों के सृजन करने की परंपरा पूर्व से अब तक यथावत् बनी हुई है। वास्तविकता यह है कि कला की इन दोनों विधाओं (साहित्य और सिनेमा) में अंतर के कारण परस्पर मतभेद रहे हैं। साहित्य और सिनेमा में परस्पर यह मतभेद उन दर्शकों के द्वारा होता है जो दर्शक साहित्यिक उपन्यास, कहानी,

नाटक आदि पहले से ही पढ़ लेते है। जिस पर बाद में फिल्मों का सर्जन होता है और जब वही दर्शक पढ़े हुए साहित्य पर आधारित फिल्मों को देखकर सिनेमाघरों से बाहर निकलते है। उस स्थिति में प्रायः उनके मुख से यही बात सुनी जाती है कि उपन्यास, कहानी, नाटक आदि और फिल्म में काफी अंतर है। दोनों बहुत ही भिन्न-भिन्न है। वास्तविकता यह है कि दर्शक फिल्म को स्वतंत्र रचना के रूप में नहीं देखते हैं। फिल्म की तुलना साहित्य से करने के कारण दर्शक फिल्म में मूल कृति को खोजने का प्रयास करने लगता है। दर्शक यह भूल जाता है कि कोई भी वस्तु दूसरी अन्यतम वस्तु की रचना के समान हूबहू नहीं हो सकती है। इस प्रकार किसी भी साहित्य के आधार पर फिल्म का सर्जन किया जा सकता है किंतु कोई भी फिल्म साहित्य पर आधारित रचना के हूबहू नहीं हो सकती। किसी वस्तु की संरचना, प्रवृत्ति, अस्तित्व एवं सुंदरता अन्यतम दूसरी वस्तु की सुंदरता से हुबहू नहीं हो सकती है। इस संदर्भ में प्रख्यात पाश्चात्य आलोचक एवं चिंतक 'वाल्टर बेंजामिन' ने कहा था: "किसी कलाकृति की सबसे अच्छी अनुकृति में कम-से-कम एक कमी तो रह जाती है मूल कृति किसी खास काल तथा स्थान में स्थिर होती है जहाँ तक यह स्थिति होती है, वहाँ वह अनूठी है उसका अनूठा अस्तित्व है जिसकी अनुकृति संभव नहीं है।"[1]

हिंदी सिनेमा में साहित्यिक रचना पर अनेकानेक फिल्मों का निर्माण हो चुका है और हो भी रहा है। अधिकांश लेखक अपनी रचनाओं पर बनी फिल्मों से संतुष्ट नहीं है। इन रचनाकारों को ऐसा अनुभव होता है कि फिल्म अपनी मूल रचना से बहुत दूर हो गई है। उनके और उनकी रचना के साथ न्याय नहीं हुआ है। रचनाकार यह भूल जाते हैं कि साहित्य और फिल्म दो भिन्न-भिन्न कला की विधाएँ है। रचना में व्यक्त किसी दृश्य-चित्र को पढ़ना और उसी दृश्य चित्र को फिल्म में देखने पर अलग-अलग प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं क्योंकि लेखक उस दृश्य को अपनी संवेदना, भावना, परिवेश एवं सहानुभूति इत्यादि को मिश्रित करते हुए रचना में रखता है। वहीं फिल्म की पटकथा तकनीकी, शैली एवं सुविधाओं के दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए लिखी जाती है। जिसमें दृश्यों, भावनाओं और संवेदनाओं आदि का उचित सामंजस्य तैयार करके पटकथा में समावेशित किया जाता है।

[1] भारतीय सिनेमा का अंतः करण, पृ.-१६०

इसके अतिरिक्त साहित्य और सिनेमा में विधागत स्वभाव के अंतर को समझना भी आवश्यक है। कला की इन दोनों विधाओं में एक सबसे महत्वपूर्ण अंतर है समय के साथ उनके रिश्ते से। एक ओर जब किसी साहित्यिक रचना को पढ़ते-पढ़ते एक क्षण ठहरकर उस विषय पर विचार करने के लिए रुक जाते है। उस विचार को आत्मसात करने के प्रयास से ठहर जाते है या पुस्तक को बंद करके रख देते है और फिर पढ़ते है। वहीं दूसरी ओर जब हम फिल्म को देख रहे होते है उस समय रिमोट हमारे हाथ में होता है। फिर भी हम उस रिमोट से कहीं भी फिल्म को एक क्षण रोककर या ठहरकर उस विषय पर सोचने का प्रयास नहीं करते है और फिल्म को कहीं भी बिना ठहराव के रोके बिना अंत तक हम फिल्म को स्वाभाविक गति से देखते हुए चले जाते है।

इसी प्रकार साहित्य और सिनेमा में एक अंतर यह भी है कि जब एक पाठक किसी साहित्यिक रचना को पढ़ता है। उस समय वह पाठक रचना के पठन के साथ-साथ अपनी एक नई काल्पनिक दुनिया को रचने लगता है जो सिर्फ उसकी व्यक्तिगत दुनिया है। उसकी इस काल्पनिक रचनात्मक दुनिया में सहायक है साहित्यिक कृति के शब्द जो उसके मन-मस्तिष्क में गहरे उतर कर कल्पनाओं का एक नया संसार सृजित करते है। जिसमें वह स्वयं को उस दुनिया में महसूस करने लगता है। उदाहरण के तौर पर हम गोदान उपन्यास को लेते है: गोदान उपन्यास को पढ़कर पाठक अपने मन में होरी के प्रति जो सोच, विचार करता है। वह उसकी अपनी व्यक्तिगत दुनिया है ऐसा तो कदापि संभव नहीं है कि जो वह होरी के प्रति सोच रहा है वही सभी पाठक होरी के प्रति सोचे या उसके प्रति वही धारणा सर्जित करें। सभी पाठकों की होरी के प्रति समान रूप से सहानुभूति हो ऐसा तो कदापि संभव नहीं है। इस प्रकार सभी पाठकों के लिए होरी के चरित्र का अलग-अलग होना अवश्य है। फिल्म के संदर्भ में ऐसा बिल्कुल नहीं है उदाहरण के लिए जब 'गोदान' फिल्म का नायक होरी (राजकुमार) अभिनेता की छवि के रुप में बँधकर के दर्शकों के सामने उपस्थित रहते है जिसमें होरी का चरित्र स्थिर हो जाता है। वहीं होरी के चरित्र के रूप में अभिनय करने वाले अभिनेता (राजकुमार) ने जिस रूप को पर्दे पर प्रस्तुत किया है उससे इतर दर्शक किसी अन्य रूप को बनाने में अपने आप को सक्षम नहीं पाता है। कहने का आशय है कि साहित्यिक कृति में कल्पना का अनंत आकाश है लेकिन फिल्म दर्शकों को उस समय एक निश्चित रूप में बांध कर रखती है। फिल्म अपने

दर्शकों को उस समय हटकर कुछ अलग सोचने का समय नहीं देती है किन्तु फिल्म को पूर्ण रूप से देखने पश्चात उसे अनेकानेक संबंधों के साथ जोड़कर विवेचित किया जा सकता है। इस संदर्भ में डॉक्टर कुसुम अंसल कहती है: "पुस्तक और फिल्म दोनों के मध्य खड़े होकर मुझे लगा कि पुस्तक एक बंद दरवाजा है, जिसके पृष्ठ खोलने पर हाथ लगते हैं उनके दृश्य, जहाँ फूल खिल रहे है, सूर्य उग रहा है, चांद आकाश पर टंगा है और फिल्म एक ऐसा द्वार है, जहाँ खोलने को कुछ नहीं है, सभी कुछ आंखों के सम्मुख सामने, घटित होता है। उपन्यास पर अपनी बनी हुई फिल्म कुछ ऐसी होती है कि झरने के ऊपर से कोई पत्थर उठा दे और झरना प्रपात बन जाए या एक ऐसा दरवाजा जो भीतर-भीतर के दृश्य को समूची लैंडस्केप प्रदान करने में सफल हो जाए। आज के संदर्भ में सिनेमा ही एक ऐसा मीडिया है, जिसके माध्यम से अपनी बात हर वर्ग तक पहुँचाई जा सकती है। यह बात अलग है कि उसका विवेचन या इंटरप्रिटेशन सबका अपना-अपना होता है।"[1]

साहित्य और सिनेमा के संबंध में एक तथ्य और भी उल्लेखनीय है कि "कई-कई बार गलत पात्र चयन से भी साहित्यिक फिल्मों की आत्मा मर जाती है।"[2] इस संदर्भ में उदारण के लिए गोदान फिल्म को लिया जा सकता है। गोदान फिल्म के अभिनेता (राजकुमार) होरी की भूमिका में पूरी फिल्म में संदिग्ध रूप से दिखाई पड़ते या दिखाई देते है। फिल्म में अभिनेता राजकुमार जैसे कुशल अभिनेता कहीं से भी दीन-हीन पात्र होरी की भूमिका में सही नहीं लगते है। इसके अतिरिक्त रचना का परिवेश और वातावरण का अंकन करना फिल्मकारों के लिए एक महत्वपूर्ण चुनौती होती है। उदाहरण के लिए 'बंकिम चंद्र' की कृति पर बनी 'आनंदमठ' फिल्म, विमल मित्र की कृति पर 'साहब बीवी और गुलाम', 'आर.के.नारायण' के अंग्रेजी उपन्यास पर बनी फिल्म 'गाइड' ओड़िया लेखक 'फकीरमोहन सेनापति' की रचना पर बनी फिल्म 'दो बीघा जमीन' और 'मिर्जा हादी' की उर्दू रचना पर बनी फिल्म 'उमराव जान' इस दृष्टि से बेहद सफल और महत्वपूर्ण फिल्म रही है।

[1] सिनेमा और साहित्य का अंतसंबंध, पृ.-३०

[2] समाज और सिनेमा का त्रयी अंतर्संबंध (लेख) , सहित्य ,समाज और सिनेमा का

साहित्य और सिनेमा में एक महत्वपूर्ण अंतर भाषा का है। साहित्यकार अपनी रचना में पूरा का पूरा चमत्कार शब्दों के द्वारा उद्घाटित करता है। वह अपनी रचना की प्रत्येक पंक्ति में शब्दों के जादू से चमत्कार उत्पन्न कर रचना में विविध प्रकार से बिम्ब, प्रतीक, अलंकार और छंद के द्वारा पाठक के मन को आकर्षित कर लेना चाहता है। उदाहरण के लिए हम 'पुस्तक' शब्द को लेते हैं जब हम इस पुस्तक शब्द का इस्तेमाल साहित्य में करते है। उस समय तुरंत हमारे मस्तिष्क में पुस्तक का रूप उभरकर सामने आता है, जिसमें कई सारे पृष्ठ होते हैं, कई पृष्ठों पर रंगीन चित्रकारी होती है, जिसमें ज्ञान की बहुत सारी बातें लिखी होती है, जो हमारा भविष्य का मार्गदर्शन करती है। किंतु पुस्तक शब्द का आशय केवल वही व्यक्ति समझ सकता है जो व्यक्ति हिंदी को भली-भाँति समझता है। इस प्रक्रिया में जिस व्यक्ति को अक्षर ज्ञान नहीं होता है। वह व्यक्ति कागज पर लिखे हुए शब्दों को ढंग से नहीं पढ़ सकता है लेकिन फिल्म की प्रकृति इस संदर्भ में इससे भिन्न है। वह अपने दर्शकों को भाषाई बोध के चंगुल में नहीं फंसाती हैं। सिनेमा उस वस्तु को पर्दे पर दिखाकर भाषायी सीमा की जंजीरों को तोड़कर बौद्धिक समझ पर जोर देती है। इस स्थिति में किसी प्रकार की भाषा की आवश्यकता नहीं होती है और ना ही दर्शकों को किसी भी भाषा के अक्षर ज्ञान की आवश्यकता होती है। कहने का आशय है कि साहित्य के लिए भाषा की आवश्यकता होती है और भाषा शब्दों के द्वारा निर्मित होती है। अतः साहित्य के लिए शब्द बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि साहित्य शब्दों के द्वारा रचित शब्दों को कागज पर कलम से लिखता है। जिसमें वह शब्दों के माध्यम से बिम्ब, प्रतीक, मिथक, अलंकार एवं छंद योजना आदि का उचित सामंजस्य करता है। कहना सिर्फ यह है कि साहित्य शब्दों पर आश्रित होता है। जबकि फिल्म में किसी वस्तु का सीधे-सीधे साक्षात्कार होता है और दर्शक उस वस्तु को साक्षात्कार यानी साक्षात रुप से देखने पर पहचान लेते है। इस प्रक्रिया में अक्षर ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रक्रिया में वस्तु का साक्षात्कार कैमरे के माध्यम से होता है। इस संदर्भ में अपने लेख में वाल्टर बेंजामिन ने लिखा है: "आसपास की वस्तुओं की क्लोजअप लेकर, जानी-पहचानी चीजों के अनपहचानें पक्षों को सामने खोलकर, जीवन को कैमरे के द्वारा नए ढंग से उद्घाटन हमारे सामने अनिवार्यताओं को प्रकट करती है, जो हमारे जीवन का संचालन करती है। साथ-ही-साथ हमें यह उम्मीद भी देती है अभी इस

जगत में काफी कुछ छुपा हुआ है- ख़ाक में अभी भी सूरतें होंगी। शराबघरों और शहर की गलियों-दफ्तरों और हमारे कारखानों-सबने जैसे हमें बंदी बना लिया था। लेकिन फिल्म आई और सेकंड के दसवें हिस्सेवाले अपने विस्फोटक से इस पूरे बंदी जीवन को ध्वस्त कर दिया। अब हम इस बंदी जीवन के मलबों के बीच विराट ब्रह्मांड की यात्रा कर सकते है। क्लोजअप ने स्थान को और धीमी गति ने गतिशीलता को विस्तार दिया। एक दृश्य को विस्तारित करने से न सिर्फ वस्तुएँ ज्यादा साफ नजर आती है, बल्कि उनकी पूरी संरचना नए रूप में हमारे सामने आती है। इसी तरह गति न सिर्फ गतिशीलता के सुपरिचित तत्वों को प्रस्तुत करती है, बल्कि उनमें निहित अब तक अज्ञात गुणों को भी सामने लाती है जिसमें कोई बाधित तीव्र गति वाली लगने के बदले अकस्मात सरकती हुई, तैरती हुई अतिप्राकृतिक लगने लगती है। प्रकृति अपने एक बिल्कुल नवीन, अनाघ्रात, अनास्वादित रूप को कैमरे के सामने खोलती है जो खुली आंखों को मयस्सर नहीं। जिस जगत को हम अनायास अपनी आंखों से देखते हैं, उसी को अब सजग-सचेत होकर कैमरा अनावृत करता जाता है। कोई आदमी कैसे चलता है, यह जानते हुए भी हमने यह नहीं जानते कि एक सेकंड के एक अंश में उसका एक पाँव कैसे उठता है! हाथ बढ़ाकर सिगरेट-लाइटर या चम्मच उठाना रोजमर्रा की एक साधारण बात है, लेकिन हाथ और धातु के बीच ठीक उस क्षण क्या गुजरता है, यह हम नहीं जानते। अलग-अलग मानसिक अवस्था में यह क्या रूप लेगा, यह तो हम सोचते भी नहीं। यहीं पर हमारी सहायता के लिए आ पहुंचता है कैमरा, जिसके अनेक साधन है- नीचे झुकाना, ऊपर उठाना, ठीक बीच में आ खड़े होना, किसी तरह से खंड को अलग निथार लेना, बढ़ा देना, अचानक गति को तेज कर देना, किसी दृश्य-खंड का विस्तार कर देना या उसे घटा देना। जिस तरह मनोविश्लेषण अचेत संवेगों को सामने लाता है, उसी तरह कैमरा अचेत दृष्टि संपदा को सामने लाता है।"[1]

साहित्य और सिनेमा की पटकथा में जमीन आसमान का अंतर होता है। सिनेमा की पटकथा लिखते समय लेखक को सिनेमा की जानकारी होना आवश्यक है। एक अच्छी फिल्म का निर्माण करने के लिए एक अच्छी

[1] भारतीय सिनेमा का अंतः करण, पृ.-१६३

पटकथा का होना बहुत आवश्यक है। पटकथा लिखने के दो तरीके हो सकते है- पहला, फिल्मकार अपनी फिल्म की पटकथा स्वयं लिखे और दूसरा, अपनी फिल्म की पटकथा दूसरे से लिखवाते समय अपने विचारों को साझा करें और साझा करते हुए फिल्म का उद्देश्य एवं लक्ष्य स्पष्ट करते हुए पटकथाकार को बताएँ। कई बार ऐसा होता है कि फिल्मकार साहित्य से अपनी फिल्म का उद्देश्य ग्रहण करता है और पटकथाकार को बताकर साहित्य के ढाँचे में फिल्म की पटकथा लिखवाता है। साहित्यिक रचना में ऐसी सामग्री सहज रूप में आसानी से उपलब्ध जाती है। पटकथा के संदर्भ में 'असगर वजाहत' ने अपनी पुस्तक 'पटकथा लेखन व्यावहारिक निर्देशिका' में लिखा हैः "पटकथा, कथा का वह रूप है जिसके आधार पर निर्देशक बनाए जाने वाली फिल्म के भावी स्वरूप का अनुमान लगाता है।"[1]

किसी साहित्यिक रचना का, फिल्म की पटकथा के रूप में बदलने का आशय सिर्फ एक ही नहीं होता है उसके पीछे कई कारण होते है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि फिल्मकार साहित्य पर आधारित फिल्मों का निर्माण करते समय न सिर्फ उपन्यास या कहानी की मूल कथावस्तु एवं भाव का अनुकरण करता है अपितु वह रचना की भाषा, संवेदना एवं विचारधारा और जीवन दृष्टि को फिल्म में हूबहू उतारने का प्रयास करता है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी हम ऐसा अनुभूत करते हैं कि एक फिल्मकार यह बिल्कुल भूल जाता है कि साहित्य और सिनेमा कला की अलग-अलग विधाएँ हैं। जिसके कारण फिल्मकार फिल्म में अपनी जीवन दृष्टि और विचारधारा को दिखाने के बजाय फिल्म में मूल कृति को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। इस संदर्भ में 'विनोद दास' ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सिनेमा का अंतःकरण' में लिखा हैः "फिल्मकार किसी उपन्यास या कहानी के मूल भाव का अनुकरण करता है, इनकी पूरी कोशिश होती है कि उस साहित्यिक कृति की कथा, जीवन मूल्य और संवेदना को यथावत् फिल्म की भाषा में अनूदित कर दिया जाए। ऐसे फिल्मकार सही अर्थों में अपनी जीवन दृष्टि को दिखाने के लिए फिल्म नहीं बनाते हैं।"[2]

---

[1] पठकथा लेखन व्यावहारिक निर्देशिका , पृ.-

[2] भारतीय सिनेमा का अंतः करण, पृ.-१६४

इसके अतिरिक्त फिल्मकारों का एक समूह ऐसा भी है जो साहित्यिक रचनाओं से प्रेरणा ग्रहण करके अपनी रचनात्मक दृष्टि और कौशल से फिल्म का निर्माण करता है। इससे आशय यह है कि एक फिल्मकार साहित्य को कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल करता है और उस कच्चे माल में अपने विचार और जीवन दृष्टि का भरपूर सामंजस्य तैयार करके एक स्वतंत्र कृति के रूप में फिल्म का निर्माण करता है और अपने विचारों को मूर्त और जीवंत करने का प्रयास करता है। उदाहरण के लिए 'प्रेमचंद' की 'कफन' कहानी को लिया जा सकता है जिसके आधार पर 'मृणाल सेन' ने तेलुगु भाषा में 'ओका-ओरी कथा' नाम से फिल्म का निर्माण किया। 'मृणाल सेन' ने इस कहानी में मूल कथा से प्रेरित होकर अपने राजनैतिक दर्शन और विचार को रुपायित करने का प्रयास किया है। उन्होंने 'कफन' कहानी की एक नए रूप में व्याख्या करते हुए उसके कथ्य में विचारों की नई परधि को समेटने का प्रयास किया है। जब हम प्रेमचंद की 'कफन' कहानी को पढ़ते है तब उसमें हम ऐसा महसूस करते हैं कि घीसू और माधव दोनों आलस, कामचोर और मुफ्त की माँग के खाने वाले निर्लज्ज पात्र के रूप में दिखाई देते हैं। चाहे उन्हें कोई उनके इस कृत्य के लिए मारे-पीटे या लज्जित करें उन्हें इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। वहीं दूसरी ओर जब हम मृणाल सेन द्वारा निर्देशित फिल्म 'ओका-ओरी कथा' को देखते है तब उसमें वह न केवल घीसू, माधव के नाम परिवर्तित कर बेंगकया और किस्तियाँ करते है बल्कि कहानी का बुनियादी स्वभाव और सरोकार को परिवर्तित कर राजनीति और तत्कालीन समाज में व्याप्त दास प्रथा को विवेचित करते हुए वर्चस्वशाली सत्ता के विरूद्ध आलोचनात्मक रुख को उस फिल्म में दर्शाते हैं। मृणाल सेन ने फिल्म में उनके काम न करने के पीछे एक सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित रणनीति को दिखाने का प्रयास किया है। एक फिल्मकार साहित्य के माध्यम से न केवल अपने विचार, संवेदना और जीवन दृष्टि को नए रूप में व्याख्यायित करता है अपितु वह अपने विचार और जीवन दृष्टि को समाज के सामने प्रस्तुत कर एक नए दृष्टिकोण को हमारे समक्ष रखने का प्रयास करता है। इसके अतिरिक्त वह अपनी फिल्म को सफल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। इस संदर्भ में 'विनोद दास' ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सिनेमा का अंतःकरण' में लिखा है किः ''एक सिद्धहस्त फिल्मकार अपने जीवन

दर्शन को व्यक्त करने के लिए हिंदी साहित्य की एक क्लासिकल कहानी में किस सीमा तक परिवर्तित करने का साहस करते हैं और एक सफल फिल्म बनाते हैं।"[1]

वर्तमान समय में सिनेमा का स्वरूप परिवर्तित होता जा रहा है। फिल्मकार फिल्मों के द्वारा समाज को समसामयिक समस्याओं की ओर आकर्षित कर समाज के यथार्थ को दिखाने का प्रयास करता है। फिल्मकार अपनी फिल्म में यथार्थ को दिखाने के लिए साहित्यिक रचनाओं में फेरबदल करके समसामयिक समस्याओं की ओर समाज का दृष्टि आकर्षित करना चाहते है। इस संदर्भ में 'बुद्धदेव दासगुप्ता' की फिल्म 'उत्तरा' जो 'समरेश बसु' की कहानी पर आधारित है, उसको लिया जा सकता है। जिस समय 'बुद्धदेव दासगुप्ता' अपनी फिल्म 'उत्तरा' बना रहे थे उस समय उड़ीसा के 'पादरी स्टेन्स' को उनके दो पुत्रों के साथ जिंदा जला दिया गया था। उन्होंने इस घटना को अपनी फिल्म 'उत्तरा' में दिखाया है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि 'बुद्धदेव दासगुप्ता' ने अपने समकालीन घटना को कल्पना के जरिये फिल्म में दिखाने का प्रयास किया है। कई बार ऐसा होता है कि फिल्मकार अपनी फिल्म को बनाने के लिए जिस कहानी को चुनता है, उसमें समाज की समसामयिक समस्याएँ और घटनाएँ के साथ सामंजस्य नहीं हो पाता है जिसके कारण कई बार फिल्म असफल हो जाती है।

फिल्मों में प्राय: कई बार ऐसा देखने को मिल जाता है कि जो फिल्म साहित्य पर आधारित होती है, उन फिल्मों में फिल्मकार यदा-कदा कथ्य पर ध्यान देने के बजाय कथानक के वातावरण पर आवश्यकता से अधिक विशेष बल देता है। जिसके कारण फिल्म का कथानक गौण हो जाता है परिणामस्वरुप फिल्म में बोझिलता आ जाती है और ऐसा अनुभव होने लगता है कि मूलरचना और फिल्म में काफी अंतर है।

सिनेउद्योग में फिल्म निर्माण के केंद्र में वह व्यक्ति होता है जो अपनी पूँजी लगाता है। जो व्यक्ति फिल्म में अपना पैसा लगाता है वह अपने हिसाब से ही फिल्म का निर्माण करने के लिए बाध्य करता है। अतः फिल्म में पैसा लगाने वाला व्यक्ति निर्माता ही सर्वे-सर्वा होता है। वह अपने हिसाब से कथानक को छोटा-बड़ा कर सकता

[1] भारतीय सिनेमा का अंतः करण, पृ.-१६६

है। फिल्म में गीत, संगीत, प्रकाश और ध्वनि आदि पर अपना दखल दे सकता है। यह बहुत ही आश्चर्य की बात है कि हिंदी सिने जगत में पूँजी लगाने वाला एक भी उद्योगपति का हिंदी साहित्य से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं है। इसका संबंध हम इस बात से लगा सकते हैं कि एक भी चर्चित निर्माता हिंदी भाषाभाषी नहीं है। हिंदी सिनेमा के शैशवकाल में फिल्म निर्माण करने वाले प्रमुख लोगों में दादा साहब फाल्के, बाबूराव पेंटर, भालजी पेंढ़ारकर, वी. शांताराम मराठी भाषी थे, पी.सी.बरुआ, देवकी बोस, नितिन बोस बंगाली थे वहीं चंदूलाल शाह गुजराती तो आर्देशिर ईरानी और बाडिया बंधु पारसी थे।

उपरोक्त विवेचन के उपरांत निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि साहित्य और सिनेमा ने प्रारंभ से ही समाज के साथ अपना संबंध स्थापित किया है। साहित्य को सिनेमा से और सिनेमा को साहित्य से अलग नहीं देखा जा सकता है। साहित्यकारों और फिल्म निर्देशकों ने अपनी प्रारंभिक यात्रा के दौरान भी समाज को आईना दिखाने का काम किया है। समाज में फैल रही बुराइयों, कुप्रथा और कुरीतियों से साहित्यकार व फिल्म निर्देशकों ने अपने अपने तौर-तरीकों से समाज को अवगत कराने के साथ-साथ उन्हें व्यवहारिक शिक्षा एवं ज्ञान देने का काम भी किया है। सिनेमा ने समाज में दुखी, पीड़ित, तनाव एवं संत्रास से भरे लोगों के मन को प्रफुल्लित करने एवं उनके चेहरे पर मुस्कान लाने का काम किया है। साहित्य ने पाठक वर्ग को जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा एवं उत्साह देने का कार्य किया। साहित्य और सिनेमा कला की दो अलग-अलग विधाएँ भले ही हो लेकिन साहित्य और सिनेमा दोनों के केंद्र में हमेशा समाज ही रहा है। समाज में घटित कोई भी समस्या एवं घटना आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं पारिवारिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर साहित्य और सिनेमा के माध्यम से उसे सुधारने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। कला की इन दोनों विधाओं ने अपने-अपने तरीके से आम-आदमी के दुख-दर्द, पीड़ा एवं समस्याओं को अपने साहित्य में अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, जबकि सिनेमा ने अपनी काल्पनिक दूर दृष्टि से समाज के अनसुलझी समस्याओं को हल करके आनंद की अनुभूति कराने का प्रयास किया है। कभी-कभी समाज में ऐसा भी देखा गया है कि लोगों ने साहित्य और सिनेमा से प्रेरणा लेकर उत्साह में सरकार के विरुद्ध उनकी अराजकता एवं प्रशासन के अत्याचार से पीड़ित होकर व्यवस्था के खिलाफ आंदोलन किया है। वहीं दूसरी

ओर साहित्य और सिनेमा से शिक्षा लेकर समाज ने राष्ट्र के निर्माण में अपना अमूल्य योगदान दिया जिससे समय-समय पर समाज का मार्गदर्शन भी हुआ है और इससे उसकी महत्ता एवं महानता का बोध होता है।

तृतीय अध्याय

'रेहन पर रग्घू' और 'बाग़बान' फिल्म में वृद्धावस्था विमर्श

मनुष्य अपने आगामी भविष्य को निरंतर सुखमय बनाने के लिए जीवन भर अनेक प्रकार की तैयारियों में लगा रहता है। कभी वह भविष्य को सुखमय और भौतिक सुख-सुविधाओं से सम्पन्न के लिए जीवन भर कठिन परिश्रम करता है, तो कभी वह बच्चों की पढ़ाई-लिखाई उनकी जरूरतों और भविष्य को उज्जवल बनाने के लिए कड़ी धूप में मेहनत करता हैं। उसका पूरा जीवन परिवार की तमाम व्यवस्थाओं को पूरा करने में व्यतीत हो जाता है। जब तक वह व्यक्ति परिवार में आमदनी का जरिया होता है तब तक वह व्यक्ति परिवार में सम्मान और प्रतिष्ठा का अधिकारी समझा जाता है। जैसे-जैसे वह अपने जीवन की संध्या काल की ओर अग्रसर होता है, वैसे-वैसे परिवार के लोगों के अतिरिक्त समाज के लोग भी उन्हें बेकार और फालतू समझने की कोशिश करने लगते है। परिणामस्वरुप घर में कलह होना शुरू हो जाता है। इस प्रकार सयुंक्त परिवार की परम्परा खंडित होकर एकल परिवार में परिवर्तित होने लगती है। प्रभाकर श्रोत्रिय वागर्थ पत्रिका के सम्पादकीय में लिखते हैः "अब भारत में भी जिस तेजी से वृद्धों उपेक्षा हो रही है और उनसे पिण्ड छुटाने की प्रवृति बढ़ रही है,उसे वृद्ध गृहों तथा अनेक सामाजिक उपक्रमों की वृद्धि से जाना जा सकता है।"[1] किन्तु एक समय ऐसा था जब हमारी सभ्यता और संस्कृति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' परिकल्पना थी। जिसके कारण भारतीय समाज में परिवार के वृद्धजनों के प्रति अन्य लोग उनकी अहमियत को समझते थे। दरअसल वास्तव में उस समय वृद्धजन परिवार और समाज की रीढ़ माने जाते थे। "भारतीय समाज में वृद्धों को पारंपरिक रूप से उच्च सामाजिक मान-मर्यादा मिलती रही है। भारतीय समाज में परंपरागत दृष्टि से कोई भी कार्य हो, चाहे वह शादी-ब्याह हो या अन्य कोई कार्यक्रम, सभी विषयों पर घर के वृद्धों की राय लेना महत्वपूर्ण माना जाता है।"[2] क्योंकि भारतीय परंपरा में वृद्धजनों के आशीर्वाद के बिना कोई शुभ कार्य पूर्ण नहीं होता है। जिससे वृद्धजन परिवार और समाज का उचित मार्गदर्शन कर सम्मानीय व पूजनीय हुआ करते थे। किन्तु आधुनिकता की इस प्रचंड आँधी ने आज के युवा वर्ग को भौतिकतावादी बनाने, कम समय में अधिक धन सम्पति को अर्जित करने, अपने भविष्य को सुरक्षित कर सुखमय बनाने की मनोवृति ने लोगों को एक

[1] वागर्थ , सम्पादकीय

[2] वही, पृ.- ११

बड़े पैमाने पर गाँव से क़स्बा, क़स्बा से नगर और नगर से महानगर की ओर पलायन करने की प्रवृति दिनोदिन बढ़ती जा रही है। जिसके कारण घर के वृद्धजन पीछे छूटते जा रहे है। जिस अवस्था में उन्हें अपने बच्चों से प्यार और देखभाल की आवश्यकता है, उस अवस्था में या तो वह स्वयं से अपनी देखभाल कर रहे है या अपने खुद के बेटे और बहुओं से खरी-खोटी बातों को सुन-सुनकर शेष जीवन बिताने को मजबूर है। "भौतिक लाभ की सर्वव्यापी खोज परिवार के युवा सदस्यों को जीविका की तलाश में शहरी अंचलों में खींच लाती है जिसके कारण उन्हें परिवार के प्रौढ़ सदस्यों से विलग होना पड़ता है। युवाओं का शिक्षा या जीविका के लिए बड़े पैमाने पर शहरों में स्थानान्तरण वृद्धों को बच्चों से मिलने वाले भावनात्मक तथा भौतिक सहारे से वंचित करता है हाल के वर्षो में भौतिक लाभ की खोज में परिवार के युवाओं के विदेशों में स्थानान्तरण के फलस्वरूप भी वृद्ध पीछे छूट जाते है।"[1]

आधुनिकीकरण की इस दौड़ ने परिवार और समाज नामक व्यवस्था को पूरी तरह से बदल के रख दिया है। दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए पलायन के कारण गाँव के लोग शहरों की ओर धड़ल्ले से आ रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में कुछ वृद्धजन अपने आप से समझौता करके अपने बहू-बेटों के पास शहर में रहने के लिए चले जाते है किन्तु शहर में आकर इन वृद्धजनों की स्थिति बद से बदतर हो जाती है। इस स्थिति में वृद्धजनों के पहुँचने के कई कारण है। इसका एक सर्वप्रमुख कारण उनके लिए शहरी परिवेश का होना जो ग्राम्य एवं कस्बाई वृद्धजनों के लिए बिल्कुल नया है। उसमें भी घर के सभी सदस्यों का कामकाजी होना, जिस कारण इन वृद्धजनों के पास न कोई उनकी बात सुनने वाला होता है और न उनसे उनके दिल की बात पूछने वाला होता है। शहर में आए वृद्धजन अपने को शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं से अपने को ग्रसित पाते है। वे अपने मन में ऐसा महसूस करते है कि उन्हें शहर में लाकर एक चारदीवारी में क़ैद कर दिया गया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि शहर में इतनी जगह नहीं होती है। जहाँ सभी लोग अपने आप को खुलकर व्यवस्थित कर

[1] , वागर्थ, पृ.- ११

सके। शहरों की शान समझे जाने वाली ऊँची-ऊँची इमारतों में माचिश के डिब्बेनुमा फ्लैटों में इन वृद्धजनों का दम घुटता है जिससे वृद्धजन अपने को अनेक प्रकार की समस्याओं से घिरा हुआ महसूस करते हैं।

काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' और 'बाग़बान' फिल्म में वृद्धावस्था के दौरान उत्पन्न पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और शारीरिक व मानसिक समस्याओं को व्याख्यायित करके उनके कारणों की पड़ताल करने और समझने का प्रयास करेंगे।

अ. पारिवारिक समस्या

परिवार व्यक्तियों का एक समूह है। जिसके बिना समाज की कल्पना नहीं की सकती है। परिवार के सभी सदस्य एक-दूसरे के पारस्परिक सहयोग से स्वयं को समर्थ बनाते है। परिवार के सभी सदस्यों में रक्त का सम्बन्ध होता है या विवाह के द्वारा आत्मीय सम्बन्ध बनाकर परिवार के साथ जुड़ते है। व्यक्ति ने आदिम समाज से लेकर आधुनिक समय तक अपने रागात्मक संबंधो के कारण मानवीय सभ्यता का विकास किया है। व्यक्ति के जीवन जीने के तौर-तरीकों और उसके व्यवहार से ही मानवीय रिश्तों को मजबूती तथा समाज के विकास को बल मिलता है। जार्ज मरडॉक के शब्दों में "परिवार वह सामाजिक समूह है जो एक ही आवास में रहता है, आर्थिक रूप से एक-दूसरे को सहयोग करता है तथा संतानोत्पादन करता है।"[1]

आजादी से पूर्व भारतीय समाज में घर-परिवार परस्पर एक-दूसरे से सिमटे और जुड़े हुए होते थे। उस समय घर-परिवार से एकाध व्यक्ति ही अर्थोपार्जन करने के लिए नौकरी किया करता था, वह भी घर के नजदीक मिलने पर। वहीं दूसरी ओर शिक्षा के लिए बड़े घरों के बच्चें या अंग्रेज़ो के खास व्यक्ति होने वाले लोगो के बच्चें ही उच्च शिक्षा के लिए बड़े शहरों या विदेशों में जाया करते थे। उस समय तक वृद्धजन की कोई समस्या दृष्टिगत नहीं होती हैं किन्तु आजादी के कुछ वर्षो के बाद से वृद्धजनों की समस्याएँ उभरकर समाज के सामने आने लगी है। हालांकि उस समय भारत की अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण जीवन शैली से जुड़ी हुई और खेती पर निर्भर थी। खैर

[1] समाजशास्त्र विवेचन एवं परिपेक्ष्य , पृ.-३०३

संसाधनों के अभाव में खेती से मात्र घर का जैसे-तैसे निर्वाह हो पाता था। लेकिन उस समय का वृद्ध आर्थिक रूप से सबल था और घर में उसकी स्थिति सम्मानपूर्ण थी।

पिछले कुछ दशकों में आए आधुनिकीकरण,बाजारवाद तथा भूमंडलीकरण की प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप व्यक्ति के आचरण, व्यवहार और दृष्टिकोण में बदलाव देखने को मिलता है। जिसके कारण परिवार पूर्ण रूप से नहीं तो कम से कम आंशिक रूप से अवश्य बदला है। इसमें कोई संदेह की बात नहीं है कि भूमंडलीकरण के चलते भारत जैसे सरीखे देश में सयुंक्त परिवार की परंपरा खंडित होकर के एकल परिवार में परिवर्तित हो गई। जिसके कारण घर-परिवार एवं सगे सम्बन्धियों के बीच प्रेम भाव एवं मानवता का जो रिश्ता था वह टूटकर अब बिखर चुका है। इस संदर्भ में ललित श्रीमाली ने लिखा हैः "परिवार और समाज आपसी संबंधो और मूल्यों के संदर्भ में कितने दरक चुके हैं, उत्तर आधुनिक जीवन शैली आज तेजाब अम्ल साबित हो रही है, दादा-दादी, ताऊ-ताई, काका-काकी और अब बच्चे भी परिवार की सीमा से बाहर हो चुके है।"[1]

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास काशीनाथ सिंह का महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास का प्रकाशन २००८ में हुआ था और रवि चोपड़ा द्वारा निर्देशित फिल्म 'बाग़बान' एक चर्चित फिल्म है। यह फिल्म सिनेघरों में ३ अक्टूबर २००३ में पर्दों पर दर्शाई गयी। उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' और फिल्म 'बाग़बान' दोनों हमारे सांस्कृतिक परंपरा, मूल्यों और आदर्शों के अवमूल्यन का आख्यान हैं। फिर भी हमारा परंपरागत समाज जीवन के सभी पक्षों का समान रूप से मूल्यांकन करता है। लेकिन आधुनिकता रूपी छद्म चादर को ओढ़कर और नवसंस्कृति का हवाला देकर यह समाज कितना बदल गया है। भूमंडलीकरण के इस दौर में रिश्ते-नाते अर्थ पर केंद्रित हो जाने से जीवन मूल्यों के मायने बदल गए है। इसकी स्पष्ट झलक काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' और रवि चोपड़ा द्वारा निर्देशित 'बाग़बान' फिल्म में दिखाई देती है। इस उपन्यास और फिल्म में समाज के दोनों चेहरों को दिखाने का काम किया हैं। एक ओर समाज में स्वतंत्र जीवन के बारे में दिखाया गया है वहीं दूसरी ओर परिवार नामक

[1] चौपाल , पृ.-१५१

संस्था में परस्पर मनभेद और मतभेद, निराशा, कुंठा, अकेलापन, घुटन, संत्रास एवं व्यर्थताबोध जैसी भावनाएं दिन-प्रतिदिन समाज में देखने को मिल रही है। काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' और रवि चोपड़ा ने 'बाग़बान' में यह बताने का प्रयास किया है कि बाजारवाद और भूमंडलीकरण ने व्यक्ति को इतना विकृत एवं विसंगत कर दिया है कि वह अर्थ के तंग गलियारों में प्रवेश करके संवेदनहीन, संवादहीन, संबंधहीन, मूल्यहीन, नैतिकविहीन और विचारविहीन होकर कर रह गया है। परिवर्तन का यदि सबसे अधिक दुष्प्रभाव किसी वस्तु या सत्ता पर पड़ा है तो वह परिवार और परिवार में रहने वाले लोगों पर, जिससे मानवीय मूल्यों का ह्रास हुआ है। पारिवारिक संस्था में होने वाले परिवर्तन का प्रभावशाली चित्रण 'रेहन पर रग्घू' और 'बाग़बान' फिल्म में किया गया है। फिल्म और उपन्यास दोनों में ऐसे बहुत से अवसर आये है जब उन्होंने अपने सम्बन्धों और परंपराओं का निर्वाह भविष्य की आवश्यकताओं के अनुसार किया है।

यह उपन्यास आधुनिक समाज में पारिवारिक स्तर पर आए बदलाव को चिह्नित करता है। बहुत से नवयुवक अपने माता-पिता की आवश्यकताओं और उनके बुढ़ापे की असुविधाओं के प्रति लापरवाह हैं। माता-पिता को बिना बताए शादी कर लेते है। उन्हें अपने माता-पिता से कोई प्रेम नहीं उन्हें केवल उनके रुपए-पैसों से प्रेम है। यह उपन्यास और फिल्म बाजारवाद की आहुति में भस्म हुए हँसते-मुस्कुराते परिवार की कथा को चित्रित करता है। उपन्यास में रघुनाथ और उसकी पत्नी सरला के अतिरिक्त उनके दो पुत्र संजय और धनंजय तथा एक पुत्री सरला है। एक समय ऐसा हुआ करता था जब घर के सभी लोग मिल जुलकर प्रेम भाव से रहा करते थे। बदलते समय के साथ बच्चे बड़े हुए और पढ़ने-लिखने के लिए घर से दूर जाना पड़ा। बाहर की दुनिया को समझने तथा अपनाने के क्रम में वे सफल होकर परिवार से अलग अपनी एक नई दुनिया का सृजन करने लगते हैं। उदाहरण स्वरुप उपन्यास में रघुनाथ के तीनों बच्चे करते है। रघुनाथ कॉलेज में अध्यापक था और कॉलेज के मैनजर की बेटी से अपने बड़े बेटे संजय की शादी करना चाहते था लेकिन ऐसा नहीं हो सका। संजय अपनी पसंद की लड़की से शादी करना चाहता था। उपन्यासकार लिखते हैः

''उन्होंने चाहा- मैनेजर समधी बनें!

संजय ने यह नहीं चाहा था ! उसने वह किया जो उसने चाहा।"[1] इस घटना के घटित होने के बाद से रघुनाथ सिर पर मुसीबतों का पहाड़ टूटना शुरू हो जाता है। बेटी का विवाह रघुनाथ के बेटे संजय से न होने के कारण कॉलेज मैनेजर सेवानिवृति के कुछ वर्ष पूर्व रघुनाथ पर नेग्लिजेंस ऑफ़ ड्यूटी और इनसाबऑर्डिनेशन का आरोप लगाते हुए निलंबन का नोटिस भेज देते है। आयु के इस पड़ाव में आकर मास्टर रघुनाथ निलंबन से बचने के लिए वी.आर.एस (वालंटरी रिटायरमेंट स्कीम) ले लेते है।

प्रत्येक माता-पिता ने अपनी आँखों में स्वप्न संजोया होता है कि वह अपने बच्चों की शादी अपने सामने अपने रीति-रिवाज से करें। उपन्यास में संजय अपनी पसंद और प्रोफेसर सक्सेना की बेटी सोनल से विवाह से विवाह करता है। जिससे रघुनाथ और उनकी पत्नी शीला को गहरा आघात पहुँचता है। वृद्धावस्था में अपने बेटे के इस कृत्य से उन्होंने लोगों से मिलना-जुलना बंद कर दिया। उपन्यासकार लिखते हैः "ऐसी चोट लगी थी रघुनाथ और शीला को जिसे न वे किसी को दिखा सकते थे, न किसी से छिपा सकते थे। ऐसी जगहों पर जाना उन्होंने बंद कर दिया था जहाँ दो चार लोग बैठे हों। उन्होंने मान लिया था कि दो बेटों में से एक बेटा मर गया। जब माँ बाप की प्रतिष्ठा की चिंता नहीं तो मरा ही समझिए!"[2] संजय के अतिरिक्त रघुनाथ की बेटी सरला और सुदेश भारती एक-दूसरे से प्रेम करते है। सरला सुदेश भारती से शादी करने के लिए अपने पिता रघुनाथ को कहती है। सरला की इस बात को सुनकर रघुनाथ उसे विस्मय की दृष्टि से देखते हैं, वहीं सरला की माँ शीला बातों को सुनकर फफक-फफक कर रोने लगती हैं और वे दोनों भगवान का नाम लेकर अपने आप को कोसने लगते हैः

"रघुनाथ ने दिमाग पर जोर डाल कर कहा- "एक कोई भारती भारती करके था जो तुम्हारे साथ एम.ए में पढ़ता था।"

"और उसकी तारीफ करते थे आप! वही आपको लेकर बाजार जाता था!"

"हाँ, अच्छा लड़का था। मगर चमार था!"

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१८

[2] वही , पृ.-२४

"मिर्ज़ापुर वाला वही सुदेश भारती हैं! जिसे आप अच्छा कहते थे।"

"तो?" रघुनाथ विस्मय से उसे घूरते रहे!

"तो क्या? उसके साथ मेरी शादी करेंगे आप?"

रघुनाथ खटिया पर फिर पसरें,इसके पहले ही शीला फफक कर रोने लगी! रघुनाथ ने आकाश की ओर दोनों हाथ उठाए- "हे भगवान! यह क्या कर रहे हो मेरे साथ! लाला तक गनीमत थी लेकिन अब? मैं क्या करूँ? किसे मुँह दिखाऊँ?..."[1] वहीं छोटा बेटा धनंजय नोयडा में एम.बी.ए करने के लिया गया था और वह वहाँ जाकर एक विधवा महिला के साथ सह-निवास (लाइव-इन-रिलेशन) में रहने लगता है। कुलमिलाकर के कहने का आशय यह है कि रघुनाथ और शीला को अपने एक भी पुत्र-पुत्री की शादी करने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ। वृद्धावस्था में उनके सारे सपने और अरमानों को उनके अपने बच्चों ने अपने नफ़ा-नुकसान के चलते रौंद दिया। जिसके कारण रिश्तों में खोखलापन और जड़विहीनता देखने को मिलते है। इस संदर्भ में गोपेश्वर सिंह ने लिखा हैः "गांव और शहर तक फैली इस कथा के नायक रघुनाथ की अजीब और विवश दास्तान को पढ़ते हुए मुझ जैसा पाठक तेजी से आये इस बदलाव ने हमारा सामाजिक और पारिवारिक बदलाव को स्वीकार नहीं पाता। उसे यह विश्वास नहीं होता कि हमारे सारे संबंध इतने निर्मम तरीके से बदल हैं। भूमंडलीकृत व्यवस्था के तहत बदलाव तो आया हैं लेकिन इतनी तेजी से आया है, यह उपन्यास पढ़कर मैंने जाना। इस बदलाव के कारण हमारी दुनिया कितनी निर्मम, आत्मकेंद्रित, जड़विहीन और संवेदनहीन हो गयी है। इसकी दिलचस्प और प्रामाणिक कथा है- 'रेहन पर रग्घू'।"[2] वहीं रवि चोपड़ा द्वारा निर्देशित फिल्म बाग़बान में शादी-विवाह के संबंध में राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) और पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) को अपने बेटों को अपनी पसंद और शादी के निर्णय से कोई आपत्ति नहीं होती है। फिल्म में राज मल्होत्रा एवं पूजा मल्होत्रा का दत्तक पुत्र आलोक मल्होत्रा (सलमान खान) अर्पिता मल्होत्रा (महिमा

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-५२

[2] चौपाल , पृ.-५८

चौधरी) से प्रेम करता है। आलोक जब अपने प्रेम के बारे में माँ-पिता (राज मल्होत्रा-पूजा मल्होत्रा) को बताते है उसी समय पूजा-राज मल्होत्रा उसे शादी करने की सलाह दे देते हैं।

उपन्यास में शीला और सोनल सास और बहू की भूमिका में है। शीला और सोनल के आपसी सम्बन्ध एक परंपरागत सास और आधुनिक बहू के संदर्भ में हैं। शीला ने जीवन भर कड़ी मेहनत, परिश्रम, त्याग और बलिदान करके छोटी-छोटी वस्तुओं को प्राप्त किया था, प्राप्त होने पर उस वस्तु का कैसे, किस प्रकार और किस सीमा में उपयोग करना है उन्हें बहुत बेहतर तरीके से आता था ताकि उस वस्तु का इस्तेमाल भविष्य में उचित समय पर हो सके। उपन्यास में शीला रात की बची हुई रोटी और सब्ज़ी का नाश्ता सुबह कर लेती थी क्योंकि उनके मन में एक प्रश्न बार-बार आता था कि रोज-रोज की यह बासी रोटी-सब्ज़ी फेंकने से अच्छा है कि उन्हें खा लिया जाए। जिसे एक दिन सोनल देख लेती है और अपनी सास को हिदायत देती हुई कहती है कि- "शीला सुबह रात की बची रोटी या परांठे और सब्ज़ी का नाश्ता करती थी! सोनल ने देखा तो बिगड़ी-नहीं मम्मी, यह नहीं चलेगा। आप वह खाएँगी जो मैं खाऊँगी! टोस्ट बटर, दलिया, दूध, फल! वह सब नहीं।"[1] शीला रात की बची हुई रोटी-सब्ज़ीघर पर काम करने आने वाली गीता को दे दिया करती थी। क्योंकि घर का प्रत्येक वृद्ध व्यक्ति यह चाहता है कि जो वस्तु हमारे काम नहीं आ रही है और उससे दूसरे का भला हो रहा है तो उस सामान को सामने वाले को देने में ही हमारा बड़्ड़पन है। इसी दायित्व का निर्वाह करते हुए उपन्यास में शीला रात की बची हुई रोटी सब्ज़ी नौकरानी को दे देती है। कभी सब्ज़ी न होने पर अचार या चाय दे देती थी। इस स्थिति को अपनी आँखों से देखकर सोनल अपनी सास पर क्रोधित होती है जिसे सिर झुकाए शीला चुपचाप सुनती हुई नज़र आती हैः "मम्मी, वह आपकी परजा नहीं हैं, नौकरानी है- प्रोफेशनल। उसका पेट रोटी पराँठें से नहीं, पैसे से भरेगा! यही नहीं, आप उनसे बातें करेंगी और वह आपके सिर चढ़ जाएगी! कल जब आप किसी बात के लिए उसे टोकेंगी, वह लड़ बैठेगी! उसे आप वही रहने दें जो है! आए, अपना काम करे और रास्ता नापें!"

[1] चौपाल , पृ.-१२०

शीला सिर झुकाए चुपचाप सुनती रही और उठ खड़ी हुई- "लेकिन मैं अन्न का अपमान नहीं होने दूँगी! उसे नहीं खिलाऊँगी तो खुद खाऊँगी!" [1] सोनल, आज की आधुनिक नई सोच और नए ज़माने का प्रतिनिधित्व करने वाली बहू के रूप में हमारे सामने उपस्थिति होती है। उसे अपनी जीवन शैली के समक्ष मानवीय मूल्य तुक्ष्य और बेकार लगते है। उसने अपने जीवन में कभी किसी चीज के लिए संघर्ष एवं परिश्रम नहीं किया जिस तरह उनकी सास शीला ने अपने जीवन में किया है। वह भली भाँति जानती है कि अन्न को पैदा करने में कितनी मेहनत और परिश्रम लगता है जब जाकर दो वक्त की रोटी खाने को मिलती है। इसी कारण शीला अपनी बहू के बारे में सोचती है किः "बहु नकचढ़ी ही नहीं, सिरचढ़ी भी है! पैदा करती, तब उसे अनाज का मोल भी पता चलता। माँ बाप की इकलौती औलाद, जात की लाला-खेत खलियान से मतलब नहीं; उसे क्या मालूम अपनी फसल का सुख दुःख?"[2] समय और परिस्थितियाँ मनुष्य को मजबूत, गंभीर और चेतना प्रदान करती है। इन परिस्थितियों से गुज़र के शीला को मानवीय मूल्य और जीवन के अनुभवों का ज्ञान हुआ है। वहीं सोनल ने अपने जीवन में कभी इस तरह की परिस्थितयों का सामना नहीं किया है। तब वह उस परिस्थिति को किस प्रकार समझ सकती है? हिंदी प्रदेश में कहावत हैं 'जाके पैर न फटी बिवाई, वो क्या जाने पीर पराई' यह उक्ति सोनल पर पूर्णतः चरितार्थ होती हैं। यही कारण है कि सोनल और शीला में पीढ़ी अंतर होने से समय-समय पर आपसी टकराव और खींचतान होती रहती है इस विषय पर सदाशिव श्रोत्रिय ने अपने लेख 'जीवन में सीधी निगाह' में लिखा हैः "नई और पुरानी पीढ़ी के मूल्यों में टकराव के कारण आज कई जगह उनका साथ रह पाना कठिन हो गया है। इस टकराव के कारण शीला सोनल के पास नहीं रह पाती।"[3] वहीं जब फिल्म 'बाग़बान' में पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) और किरण मल्होत्रा (सुमन रंगनाथ) के आपसी संबंध पर विचार करने पर देखते है कि बहू किरण मल्होत्रा के मन में अपनी सास पूजा मल्होत्रा के प्रति वही भाव है जो काशीनाथ सिंह के उपन्यास रेहन पर रग्घू में शीला के प्रति सोनल के

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१२१
[2] वहीं , पृ.- १२१
[3] चौपाल , पृ.-७४

है। फिल्म में पूजा मल्होत्रा अपने बड़े बेटे अजय मल्होत्रा (अमन वर्मा) के ऑफिस से लौटकर जब घर में प्रवेश करती हैं उसी समय बड़ी बहू (सुमन रंगनाथ) अपनी सास (हेमा मालिनी) पर बहुत क्रोधित होती है और बहुत अधिक भला-बुरा कहती हैः " किरण-पता है माँ-बेटे में खूब खिचड़ी पक रही होगी जी भर के बुराई कर रही होंगी पूजा-किरण, हा मैं वहाँ बुराई करने नहीं गयी थी।

किरण-ज्यादा भोली बनने की कोशिश मत कीजिये,आखिर चाहती क्या है आप? क्यों मेरे घर की सुख शांति भंग करने की कोशिश कर रही है, आप।"[1]

इसके अतिरिक्त फिल्म में और भी कई अंश है जिसमें पूजा मल्होत्रा के प्रति उनकी बहू किरण मल्होत्रा का व्यवहार बहुत ही असंतोषजनक रहा है। जैसा कि फिल्म में दर्शाया गया है जब पूजा मल्होत्रा अपने बड़े बेटे के साथ उनके घर आती हैं तब उनको नौकरानी के कमरे में ठहराया जाता है जिससे नौकरानी काम छोड़कर के चली जाती है। उस समय किरण अपने पति अजय मल्होत्रा से कहती हैं कि उनके आ जाने से कामवाली काम छोड़ कर चली गयी और अपने पति से सांकेतिक रूप में सास पर ताना मारते हुए कहती हैः "सुबह उठकर मैं चाय-बाय नहीं बनाने वाली जिसे पीनी हो वह खुद बनाए।"[2] रघुनाथ उपन्यास में सोनल के प्रति अपने संबंधो को हमेशा बेहतर बनाने की कोशिश करते है। उपन्यास में रघुनाथ सोनल को बहु से अधिक बेटी के रूप में समझने का प्रयास करते है। वृद्धावस्था के इस पड़ाव में आकर रघुनाथ अपने हिसाब से उसे नहीं चलाते है जबकि उनको जीवन का अनुभव और तजुर्बा सोनल से अधिक है। वह सोनल के हिसाब चल रहे हैं क्योंकि वह जानते है जीवन के इस संध्याकाल उनके तरीके से चलना बेहतर है नहीं तो रोज-रोज आपस में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जायगी। इसीलिए उन्हे अपने को ससुर से अधिक बाप बनना सही लगा। "इन्हें ससुर के बजाय 'बाप' बनकर चलना ज्यादा सुविधाजनक लगा था। अव्वल तो तनाव का कोई मसला पैदा ही पैदा न होने दो और पैदा भी तो गम खा जाओ

---

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

[2] वहीं

या टाल जाओ।"[1] शायद रघुनाथ की इसी समझदारी के कारण अपने बेटे संजय और पत्नी शीला की अनुपस्थिति में उन्हें सोनल के साथ रहने में कोई परेशानी नहीं हुई। यदि उम्र का बंधन सोनल के ऊपर से हटा दिया जाए तो उसकी स्थिति भी रघुनाथ से कम नहीं है। कहने का आशय यह है कि महानगरीय परिवेश में सोनल का अपने पति की अनुपस्थिति में रहना और रघुनाथ की पत्नी की अनुपस्थिति (बेटी सरला के घर में रहती हैं) में एक-दूसरे का व्यवहार सामंजस्य ही एक दूसरे का अंतिम सहारा है। इससे ही परिवार के चुपी भरे माहौल को तोड़ा जा सकता है। इस संदर्भ में रमाकांत श्रीवास्तव ने लिखा हैः "रग्घू और उनकी बहू किस्मत के मारे, एक दूसरे के अंतिम सहारे है। वस्तुतः पूरी अशोक विहार कालोनी, बदलते हुए भारतीय परिवेश में विस्थापन की संभ्रांत प्रक्रिया से गुज़रते मानव समुदाय का शरण स्थल हैं।"[2] फिल्म में राज मल्होत्रा का व्यवहार सामंजस्यवादी है फिर भी राज मल्होत्रा के दूसरे बेटे संजय मल्होत्रा (समीर सोनी) की पत्नी रीना मल्होत्रा (दिव्या दत्ता) का व्यवहार बहुत अशोभनीय है। फिल्म में ऐसे कई अंश हैं, जहाँ उनकी बहू रीना मल्होत्रा का व्यवहार उनके प्रति ख़राब रहा है। चाहे उन्हें घर ले जाने के समय हो या राज मल्होत्रा का चश्मा टूटने पर उनके पोते (राहुल) के द्वारा नया चश्मा लाकर देने पर। रीना अपने बेटे राहुल को पीटते समय जो कटु शब्द अपने पिता समान ससुर को कहती है उन शब्दों ने न केवल राज मल्होत्रा प्रभावित किया अपितु उस स्थिति में रहने वाले तमाम वृद्धजनों की स्थिति को दर्शाने का प्रयास किया हैः

"राज मल्होत्रा(ससुर)- क्या हुआ बहू

रीना मल्होत्रा (बहू)- आप बीच मैं मत बोलिये प्लीज़ आपकी वजह से पहले ही बिगड़ चुका है, अब झूठ बोलने लगा है, बेईमानी करने लगा है, आज आपके चश्मे के लिए अपने जूतों के पैसे खर्च कर के आया है, कल आपकी किसी और जरुरत के वजह से घर का सामान बेच देगा..."[3]

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१२८

[2] चौपाल , पृ.-५५

[3] संवाद (फिल्म बागवान से)

वर्तमान समय संक्रमणशील मानसिकता का दौर है। जहाँ पहले समष्टि को प्रमुख माना जाता था वहाँ आज व्यष्टि को प्रमुखता दी जा रही है। वर्तमान में समस्त मानवीय मूल्य जैसे दया, परोपकार, करुणा, ममता आदि को दरकिनार करके उसके स्थान पर स्वार्थ भावना का वर्चस्व स्थापित हो गया है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता हैं कि जहाँ स्वार्थ की भावना प्रबल आवेग पर होंगी वहाँ नैतिकता का ह्रास होना स्वाभाविक हैं। 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में रघुनाथ का छोटा बेटा धनंजय इसी भावना से ग्रसित होकर के नैतिक ज्ञान और मानवीय जीवन मूल्यों का भुलाकर अपने पिता के प्रति दुर्बल भावना रखता है। उपन्यास में धनंजय अपने पिता को दिए गए ब्रीफ़केस से रूपये बिना बताए निकाल लेता है और पिता के पूछने पर उल्टा उनके चरित्र पर लांछन लगा देता है: "मंगनी की बछिया के दांत नहीं गिनते! संतोष कीजिए, जितना मिल गया मुफ्त का समझिए!"

वे एकटक राजू को देखते रहे- "तुमने तो कुछ इधर उधर नहीं किया!"

"मैं जनता था यही शक करेंगे आप! स्वाभाव से ही शक्की हैं।" [1]

यह भावना वर्तमान में केवल एक मात्र धनंजय की नहीं है अपितु आज की लगभग नब्बे प्रतिशत युवा पीढ़ी के यही विचार है। समय-समय पर युवा अपने माता-पिता को अपशब्द या कोसते हुए नज़र आते है। अक्सर समाज में देखते है कि परिवार में यदि दो बेटे है तो एक बेटा अपने माता-पिता पर वृद्धावस्था में पक्षपात और भेदभाव करने का आरोप लगाते हुए प्रायः देखा जाता हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि कोई माता-पिता अपने बच्चों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखते है। चाहे वह शिक्षा का मसला हो या सम्पति का। उपन्यास में धनंजय अपने पिता रघुनाथ पर एक समान शिक्षा न देने और शिक्षा पर समान रूप से दोनों बेटों पर न व्यय करने का आरोप लगाते हुए कहता है: "हमारे बापजान के दो बेटे-संजू और मै! इन्होंने एक आँख से हमें देखा ही नहीं। सारी मेहनत और सारा पैसा इन्होंने उस पर खर्च किया। पढ़ाया, लिखाया, कम्प्यूटर इंजीनियर बनाया और मेरे लिए कॉमर्स पढ़ो। जिसे पढ़ने में न यह मेरी मदद कर सकते थे।"[2]

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-२७

[2] वहीं , पृ.- २८

आजकल की चका-चौंध भरी जीवन शैली ने मानवीय रिश्तों की डोर को कमजोर कर दिया है। नगरीकरण की प्रक्रिया ने युवकों को अँधा बना दिया है। चका-चौंध भरी जीवन शैली जीने के लिए बच्चे अपने माता-पिता से न जाने क्या-क्या कंजूस, दरिद्र बोलते रहते है। वे यह कभी नहीं सोचते हैं कि उन्होंने ऐसा क्यों किया और किसके लिए किया? अगर वह स्वयं इन बिंदुओ पर विचार करें तो उन्हें उत्तर मिल जाएगा कि ऐसा उन्होंने अपने हित के लिए नहीं अपितु आपके हित के लिए किया था जिससे आपकी जरूरतें पूरी हो सकें। आपको भविष्य में कोई दिक्कत, परेशानी का सामना न करना पड़े। उपन्यास में रघुनाथ का छोटा बेटा धनंजय आज के युवाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला पात्र है। काशीनाथ सिंह ने दिखाया हैं कि धनंजय नगरीय जीवन शैली से प्रभावित होकर गांव देहात में रहने वाले रघुनाथ से टेलीफोन, बिजली के तार खिचवाने के लिए कहते समय उन्हें कंजूस तथा दरिद्र बोलकर उनका अपमान करता हैः "पहले तो इनसे कहो कि ये कंजूसी और दरिद्रता छोड़े अब! हँसी उड़ाते हैं लोग। यह ढिबरी और लालटेन छोड़े और दूसरों की तरह तार खिचवा के- कम से कम आँगन और दरवाजे पर लट्टू लगवा ले। रोशनी हो घर में! इसके साथ फोन भी लगवा रहे हैं लोग।"[1] बुढ़ापे से त्रस्त रघुनाथ जीवन की इस संध्या में अपने को अपमानित और घृणित अनुभव करता है। अपनी किस्मत को रोते, माथा पीटते हुए उनके मुख जो वाक्य निकलता है वह वाक्य केवल रघुनाथ का नहीं अपितु लगभग साठ प्रतिशत भारत के वृद्धजन का वाक्य है जो उनके ह्रदय प्रतिदिन निकलता है। उपन्यासकार इसका चित्रण करते हुए लिखते हैं किः "माथा पीटते हुए फिर बैठ गए रघुनाथ-"हाय रे किस्मत !जिनके लिए कंजूसी की,उन्ही के मुँह से यही सुनने को बदा था।"[2]

मनुष्य ने भौतिक विकास की दृष्टि से अपना कितना भी विकास कर लिया हो लेकिन नैतिक दृष्टि से उन्होंने अपने विकास की अपेक्षा अपना पतन ही किया है। परिणाम स्वरुप वह अपने लोगों और जड़ो से हमेशा के लिए कट रहा है। आधुनिक युग में, समाज में इस प्रकार की घटना सुनने को प्रायः मिल जाती है जिससे वृद्ध

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-२८

[2] वहीं , पृ.- २८

माता-पिताओं के मन में इस प्रकार की खबरे सुनकर पुत्रों के प्रति दहशत का माहौल बैठ जाता है कि फलाने व्यक्ति को उसके बेटें ने धन-सम्पति के लालच में घर से निकाल दिया या घर के बेटें ने धन-दौलत के लालच में अपने माता-पिता का कत्ल कर दिया है। उपन्यास में रघुनाथ संजय की पत्नी सोनल के साथ अशोक विहार में रहा करते थे। वहीं उनकी मित्रता एक बापट नाम के व्यक्ति से हुई जो उनके ही हमउम्र थे। उन्होंने अपने दत्तक पुत्र के लिए सब कुछ किया है खिलाया-पिलाया,पढ़ाया-लिखाया नौकरी दिलाकर शादी की लेकिन उसके गलत चाल-चलन से परेशान होकर उसे घर से निकाल दिया है। वहीं वह अपने बाप से जबरदस्ती घर-मकान (फ्लैट) को अपने नाम करवाना चाहता था और शायद हत्या करने से पूर्व बलपूर्वक उसने अपने नाम करवा भी लिया होगा। जब यह खबर सोनल के पुरुष मित्र समीर के द्वारा रघुनाथ को पता चलती है तब रघुनाथ को दुख तो होता ही है इसके साथ ही अपने आने वाले दिनों को लेकर चिंतित दिखाई देते है। उपन्यासकार लिखते हैः "पापा जी, क्या आप को खबर हैं कि बापट का मर्डर हो गया पिछले दिनों? नहर में उनकी लाश मिली थी? और आप आश्चर्य करेंगे कि एफ.आई.आर इसी बेटे के नाम दर्ज हुई है। पेपर में आया था यह समाचार! इस बेटे को उन्होंने अनाथालय से एडाप्ट किया था जब वह बच्चा था! पढ़ाया लिखाया था,कोई नौकरी भी दिला दी इसको। चूँकि इसका चाल-चलन अच्छा नहीं था इसलिए निकाल दिया था उन्होंने घर से! यह चाहता था कि अपने रहते फ्लैट उसके नाम लिख दें! शायद लिखवा भी लिया था इसने। इस शर्त पर कि वह इसमें तभी आएगा जब वह नहीं रहेंगे !...कहना मुश्किल है कि कैसे क्या हुआ?"[1]

जिस तरीके से उपन्यासकार ने वृद्ध माता-पिता के प्रति पुत्रों के व्यवहार और बर्ताव को रेखांकित कर उनके इस कृत्य पर प्रश्नचिन्ह खड़ा किया है। वहीं रवि चोपड़ा द्वारा निर्देशित फिल्म 'बाग़बान' में संजय मल्होत्रा (समीर सोनी) के द्वारा अपने पिता को यह कहना कि हमने अपनी मेहनत, लगन, कौशल और बुद्धिमता से अपना घर बनाया है। वर्तमान को सुरक्षित करने के साथ भविष्य को भी सुरक्षित किया है ताकि हमें बुढ़ापे में

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१५३

किसी सामने हाथ न फैलाना पड़े। इसके अतिरिक्त संजय यह कहना कि आपने हमारे लिए किया ही क्या है? इन शब्दों को सुनकर राज मल्होत्रा (संजय का पिता) अपने को बहुत दुखी और घृणित महसूस करते है। उन्हें ऐसा लगता है जैसे उनके अपने बच्चे उनकी इस स्थिति पर हसँ रहे हैं। इसके साथ ही मानो चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा है कि आपने अपनी जवानी में क्या किया? जो आप अपने बुढ़ापे में रहने के लिए छत और खाने के लिए दो रोटी का बंदोवस्त नहीं कर सके। आज की युवापीढ़ी यह भूल जाती है कि आज जो भी आपके पास है वह सब माता-पिता के द्वारा दिए गए कृपारूपी आशीर्वाद का फल है। यदि माता-पिता सिर्फ अपने बारे में सोचते तो आप इस रुतबे और मुकाम को हासिल नहीं कर पाते, जिस स्तर पर आज पहुँच कर अपने को गौरवान्वित और अपने माता-पिता को हेय की दृष्टि से देख रहे हैं। फिल्म में दिखाया गया है कि:

“संजय मल्होत्रा (समीर सोनी)- डैड ! आपके ज़माने में न काम में कोई कॉम्पिटिशन था और न लाइफ में कोई टेंशन हमें तो रात-रात भर जागना पड़ता है।

राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- तुम्हे क्या लगता हैं, हमारे लिए, सब कुछ बहुत आसान था, हमारे जीवन में कोई टेंशन ही नहीं था, अरे! भाई हमारे जीवन में भी टेंशन था। लेकिन बावजूद इसके हमने अपने काम में अपना पूरा आउटपुट दिया, मेहनत से पैसे कमाये, इज्जत पाई, चार-चार बेटों को इस लायक बनया कि सिर उठा के जी सके।

संजय (समीर सोनी)- हाँ डैड लेकिन आपको यह बात तो मानी होगी कि आपके बच्चों में वो स्केल, वो टेलेंट, वो काबलियत थी जिनकी बदौलत उन्होंने खुद अपने लिए रास्ते बनाए, मंजिले हासिल की...यह घर बनाया और यही नहीं डैड अपने प्रेजेंट के साथ अपना फ्यूचर भी सिक्योर किया ताकि बुढ़ापे में उन्हें किसी के पास आगे हाथ न फैलाना पड़े।

क्या हुआ डैड ?आप ऐसे क्या देख रहे हैं ?

ओह ! कम ऑन डैड यू हैव टू एग्री। आज जो भी है हम अपनी बदौलत है वैसे भी आप लोगों ने हमारे लिए ऐसा किया ही क्या है?"[1] नई और पुरानी पीढ़ी के मूल्यों में टकराव और सामंजस्य के अभाव में एक साथ रहकर जीवन व्यतीत करना मुश्किल हो जाता है। जब माता-पिता जीवन की शांत बेला में प्रवेश कर जाते हैं तो वह अपने बेटों और बहुओं से यह आशा रखते है कि वह बच्चें उनके अनुभव और तजुर्बे को सम्मान दे। उनकी सोच को सम्मान दे। बुढ़ापे में उनका सहारा बने। किन्तु विचारों के सामंजस्य के अभाव में दोनों पीढ़ियों के बीच टकराहट के तत्व निकलकर सामने आते हैं। फिल्म बाग़बान में बच्चों को अपने माता-पिता का प्यार, दुलार पीढ़ी अंतराल के कारण घुटन महसूस करने वाला लगता है, उनकी परवाह करना उन्हें ऐसा लगता हैं जैसे वह उनकी व्यक्तिगत जिंदगी में आवश्यकता से अधिक दखल दे रहे है। उनका मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मन मर्ज़ी से जिंदगी जीने का अधिकार है। इसी कारण फिल्म में अजय मल्होत्रा (अमन वर्मा) अपनी माँ पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) को अपमानित करते हुए कहता है किः "अजय मल्होत्रा (अमन वर्मा)- आई बिलीव इन कम्पलीट फ्रीडम हर इंसान को अपनी जिंदगी मन मुताबिक जीने का पूरा हक़ होना चाहिए।

पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी)- लेकिन घर में एक अनुशासन का होना बहुत जरुरी हैं और वो तुम रख सकते हो। तुम्हारे पापा ने हमेशा घर-परिवार पर कण्ट्रोल रखा, डिसीप्लेन मेनटेन किया और परिवार को बांध के रखा।

अजय मल्होत्रा (अमन मल्होत्रा)- अनुशासन का यह मतलब नहीं ममा कि हम दूसरे की जिंदगी में इतना दख़ल देने लग जाए कि फ्रीडम खत्म हो जाए।

पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी)- लेकिन उन्होंने जो कुछ भी किया वह हमारी भलाई के लिए किया यह उनका प्यार था।

अजय मल्होत्रा (अमन वर्मा)- प्यार जब हद से ज्यादा बढ़ जाता है,तो वह घुटन बन जाता हैं।

पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी)- मतलब हमारा प्यार तुम्हारे लिए घुटन बन गया ...

---

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

अजय मल्होत्रा (अमन मल्होत्रा)- कम ओन मम्मा! इस बेकार के झमेले में क्यों पड़ रही है। दो-चार दिन के लिए मेहमान बनकर आई हैं मेहमान बन के रहिये न..."[1]

भूमंडलीकरण के इस दौर में परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने मन मुताबिक जिंदगी जीना चाहता है। जिसके कारण वह अपनी भारतीय संस्कृति के परम्परागत मूल्यों को भूलता जा रहा है। जिन माता-पिता ने आपके भविष्य के हवन कुंड में अपने आपको आहुति दे दी आज उन्ही को आप दुत्कार रहे हैं।

काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में स्पष्टता से दिखाया है कि किस प्रकार मानवीय संबंधों में केवल अर्थ की महत्ता रह गई है। अर्थ की महत्ता में वह इतने स्वार्थी हो गए हैं कि उन्हें न अपनों की परवाह और ख्याल हैं और न परायों के प्रति मानवता का। उन्हें सिर्फ और सिर्फ अपने लाभ से मतलब है। उपन्यास में रघुनाथ और उनके भाई के बीच सम्बन्ध चाहे कितने भी अच्छे रहे हो लेकिन उनके अपने भतीजों का बर्ताव उनके प्रति बहुत ही असामाजिक, अशोभनीय और निराशाजनक है। रघुनाथ के घर के पीछे उनके चचेरे भाई का घर था जिसके आगे रघुनाथ की कुछ जमींन खाली पड़ी थी, जिसे देखकर चचेरे भाई के बेटों की नीयत असावधान हो गई। जिसे वह हथियाना चाहते थे। यहाँ गौर करने वाली बात यह है कि जब तक उनके चचेरे भाई जीवित थे, सम्पत्ति के बटवारे में एक-दूसरे का सम्मान, आदर करते थे। धन-सम्पत्ति को लेकर एक-दूसरे के मन में कोई दुर्भावना नहीं थी। वह सम्मान का बटवारा करते थे लेकिन उनके न रहने पर उनकी बाद की पीढी के मन में लालच आ जाता है। इस लालच ने भूमंडलीकरण और बाजारवाद से उत्पन्न उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। "रघुनाथ के पिछवाड़े उनके चचेरे भाई का घर दुआर हैं जिसके आगे तीन बिस्से के करीब उनकी जमीन हैंभाई तक तो गनीमत थी ! उनकी यानी रघुनाथ की !। वे बटँवारे का सम्मान करते थे लेकिन भतीजों की नीयत खराब होने लगी।"[2] जैसाकि उल्लिखित है संजय ने अपनी इच्छानुसार अपने कॉलेज के प्रोफेसर सक्सेना की बेटी सोनल से शादी की। जिसके कारण रघुनाथ से अपनी बेज्जती के

---

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

[2] रेहन पर रग्घू, पृ.- ७७

बदला लेने की भावना से कॉलेज के मैनेजर ने उन्हें निलबंन की प्रक्रिया के तहत नोटिस भेजा था जिससे रघुनाथ समय से पहले सेवानिवृत्ति ले लेते हैं। सेवानिवृत होने के उपरांत रघुनाथ की पैंशन कॉलेज के मैनेजर ने लटका रखी थी जिसे बंधवाने के लिए अक्सर रघुनाथ शहर जाया करते थे और निश्चिंत होकर दो- चार दिन शहर रहकर आया करते थे। इसी बीच उनके भतीजों ने उनकी जमींन पर कब्ज़ाकर के अपने जानवरों को बांधना शुरू कर दिया था। शहर से लौटते हुए रघुनाथ ने गाँव के किनारे से दिख लिया था कि उनकी जमींन पर उनके चचेरे भाई के बेटों ने कब्ज़ा कर के इस्तेमाल कर रहे है। वह सीधे उसी जमींन पर पहुँचे जहाँ नरेश जानवरों को चारा-पानी कर रहा था। रघुनाथ ने नरेश से जमीन के बारे जब बात की तो नरेश ने कड़क स्वभाव में उत्तर दिया कि यह जमींन हमारे घर द्वार के सामने है और इस पर हमारा अधिकार है। इसके प्रतिउत्तर में जब रघुनाथ ने नरेश से गुंडई करने की बात की तभी नरेश के छोटे भाई देवेश ने रघुनाथ को मारना पीटना शुरु कर दिया। "इसी बीच गुस्से में तमतमाय और गालियाँ देता हुआ नरेश का छोटा भाई देवेश दौड़ा। और धक्का मार कर रघुनाथ को गिरा दिया। वे सम्भलें, इसके पहले ही उनकी छाती पर बैठकर चीखा- "साल बुढ्ढे! टेटुआ पकड़ कर अभी चाँप दें तो टें बोल जाओगे! हम जितनी ही शराफत से बात कर रहे हैं ।उतना ही शेर बन रहे हो! जा, जो करना है, कर ले!" उठते हुए उसने उनकी कमर पर एँड़ जमाई- "साला बुड्ढा हरामजादा!"[1]

रघुनाथ को इस बात का बिलकुल अंदाज़ा नहीं था कि उनके अपने भतीजे उसके साथ इस उम्र में हाथापाई करने पर उतारू हो जाएँगे। रघुनाथ को पिटने का इतना दुख नहीं था जितना उन्हें रिश्तों में आए बदलावों का लगा था। भतीजों के द्वारा अपमानित होने पर रघुनाथ मन ही मन में सोचते हैः "क्या हो गया है गाँव को? यहीं पैदा हुए, पले बढ़े, पढ़े पढ़ाया, सबकी मदद की-कभी किताब कापी से, कभी फीस माफ़ी से, कभी रुपये पैसे से, कितने रिश्तें नाते हैं और रहेंगे-आज भी, कल भी, क्या हो गया है गाँव को?"[2] संबंधों में आए परिवर्तन रघुनाथ के मन को झकझोर कर यह सोचने पर विवश कर देते है कि तत्कालीन समाज में संबंध

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.- ८०
[2] वहीं, पृ.- ८१

अब आत्मिक न रहकर अर्थ पर केंद्रित हो गए है। इन्ही परिवर्तनों को रघुनाथ ने अपने अंतर्मन में अनुभव किया। जब उनके भतीजों ने उनके साथ दुर्व्यवहार किया उन्हें मारा-पीटा तो कोई भी पास-पड़ोसी उन्हें रोकने या समझौता करवाने के लिए नहीं आया। यह पास पड़ोसी कहीं बाहर के नहीं बल्कि उनके अपने है कोई भाई-भाभी है, कोई कक्का-काकी है, कोई चाचा-चाची है लेकिन सब अपने-अपने घर के दरवाजे पर खड़े हो कर तमाशा देख रहे थे। जिसके बाद वृद्धावस्था में रघुनाथ को अपने पैतृक गाँव में अकेले रहने में डर लगने लगा था, कहीं उनके अपने ही उनकी जान के दुश्मन न बन बैठे। इसीलिए रघुनाथ कहते हैः "देखो जग्गन, 'परयों' में अपने मिल जाते है लेकिन 'अपनों' में अपने नहीं मिलते। ऐसा नहीं कि अपने नहीं थे-थे लेकिन तब जब समाज था, परिवार थे, रिश्ते नाते थे, जब भावना यह थी! भावना यह थी कि यह भाई है, यह भतीजा है, भतीजी है, यह कक्का है, यह काकी है, यह बुआ है, भाभी है। भावना में कमी होती थी तो उसे पूरा कर देती थी लोक लाज कि यह या ऐसा नहीं करेंगे तो लोग क्या कहेंगे! धुरी भावना थी, गणित नहीं, लेन-देन नहीं!"[1]

वृद्धावस्था में वृद्धजनों की सबसे बड़ी त्रासदी है- किसी अपने का इस संसार से गोलोकवास कर जाना या उनके दूर चले जाना है। इस स्थिति में वृद्ध अपने-आप में टूट जाते है। उपन्यास में रघुनाथ के शुभचिंतक और हितैषी छब्बू पहलवान जो समय बे समय पर उनके साथ खड़े रहे। चाहे वह रघुनाथ के पिछवाड़े पड़ी हुई जमींन पर उनके भतीजों के कब्ज़ा करने का विरोध रहा हो या अन्य व्यक्तिगत मामला। पूरे गाँव में छब्बू पहलवान एक मात्र व्यक्ति थे जो रघुनाथ को प्रिय थे। उनकी हत्या पर एक मात्र वही व्यक्ति रहे होंगे जिन्हें सबसे ज्यादा उनकी मौत का दुख हुआ थाः "छब्बू के मारे जाने का सदमा जिसे सबसे ज्यादा था, वह रघुनाथ थे!"[2] काशीनाथ सिंह ने स्वयं रघुनाथ के मुख से व्यक्त करवाया है कि वृद्धावस्था में उनके आत्मीय छब्बू के जाने पर उन्हें जितना नौकरी जाने का दुख हुआ था उससे कमतर दुख छब्बू की हत्या का नहीं था। "सच्चाई

---

[1] रेहन पर रग्घू, पृ.- ९८

[2] वही, पृ.- ७७

यह है कि रघुनाथ को नौकरी जाने का जितना दुख था उससे कम दुःख छब्बू के जाने का नहीं था! क्योंकि छब्बू थे तो रघुनाथ भी थे और उनके लिए पहाड़पुर भी! अब किसके बुते वे रहेंगे?"[1]

फिल्म 'बाग़बान' में ऐसे कई एक क्षणिक अंश है जिसके द्वारा वृद्धजनों को अपने मित्र-दोस्त, सगे-संबंधी आदि आत्मीयजनों के अलग होने के कातर दुःख को दिखाया गया है। फिल्म में राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) के घर छोड़ने पर जवानी के मित्र राम अवतार (शरत सक्सेना) का फूट-फूटकर रोना और अपनी यारी-दोस्ती का हवाला देकर उन्हें रोकने की गुज़ारिश करना। वृद्धावस्था में अपनों से अलग होने के दुःख-दर्द की असहनीय पीड़ा को व्यक्त करता है।

"राम अवतार (शरत सक्सेना)- वाह! राजू भइया खूब नेक बदला दिए हो हमारी चालीस वर्ष की दोस्ती का, हमारे प्रेम का, का कहते रहे जवानी के यार है बुढ़ापे तक साथ न छोड़िए, तो अब का हो गया, कहाँ गई तुम्हारि दोस्ती, प्रेम, यारी-बफादारी।

राज मल्होत्रा(अमिताभ बच्चन)- राम अवतार भइया तनिक हमारी बात सुनो..

राम अवतार(शरत सक्सेना)- कछु नाही सुनना हमका, अरे! अव्वल दर्जे के दगाबाज़ हो तुम, न पूछा न बताया, चल दिए नाता तोड़ के ..."[2]

वृद्धावस्था में यार-दोस्त से अलग होने के दर्द से बड़ा दर्द है पति-पत्नी का वृद्धावस्था में एक-दूसरे से परिस्थितिवश अलग हो जाना। इस स्थिति को उपन्यास में काशीनाथ सिंह और फिल्म निर्देशक रवि चोपड़ा ने अपने-अपने तरीके से बखूबी दर्शाया है। उपन्यास में सास-बहू के परस्पर सामंजस्य के अभाव के कारण रघुनाथ और शीला को इस दुःख का भागी बनना पड़ा है। वृद्धावस्था में पत्नी-पति के अलग होने पर दोनों वृद्धजनों को दुख होता है लेकिन पुरुष को थोड़ा अधिक दुख होता है। इसका सबसे बड़ा और अहम कारण है कि वृद्धावस्था में पति-पत्नी एक-दूसरे का सहारा और सुख-दुःख के साथी है। वहीं जब वृद्धावस्था में एक-

[1] रेहन पर रग्घू, पृ.- ७८

[2] संवाद (फिल्म बागवान से)

दूसरे से अलग हो जाएँगे तो उनके लिए जीते जी उनका मरने जैसा हाल हो जाता है। फिल्म बाग़बान में राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) बैंक से सेवनिवृति के बाद उनकी आर्थिक स्थिति ठीक न होने पर उनके बच्चें अपने माता-पिता को अलग कर देते है। इस दर्द को सह पाना वास्तव में किसी वृद्ध दम्पति के लिए सहज नहीं है। फिल्म में राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) इस स्थिति से बचने के लिए विरोध करते हुए नज़र आते हैं लेकिन पत्नी पूजा मल्होत्रा के आग्रह और कसम के बंधन में बंधकर उनके विरोध का शमन हो जाता है।

"रीना मल्होत्रा (दिव्या दत्ता)- तो सब की फीलिंग्स को ध्यान में रखते हुए हमने तय किया है कि पापा मेरे साथ रहेंगे, मम्मी किरण के साथ रहेंगी...फिर छःमहीने के बाद पापा रोहित के पास, मम्मी किरण के साथ रहेंगी, इस तरह से आप सब का प्यार हम सब में बटता रहेगा...क्यों ठीक हैं, न...हाँ! हाँ! हाँ!

*　　　　*　　　　दृश्य परिवर्तन　　　　*　　　　*

राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- नहीं यह न मुमकिन है बच्चे हमारा प्यार नहीं हमें बाँटना चाहते है।

पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी)- मेरी बात तो सुनिए...

राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- नहीं हम आपकी बात नहीं सुन सकते, हम तुम्हें नहीं छोड़ सकते।

पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी)- देखिये आप अपने बच्चे, अपने अंश को समझने में भूल कर रहे है।

राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- इसी बात का तो दुख है पूजा कि हमारी आत्मा, हमारे शरीर के अंश होने के बाबजूद यह इतना नहीं समझ पा रह है कि उनके माता-पिता दो नहीं एक है...जिन्हे भगवान ने एक किया है उन्हें कोई अलग करने की सोच रहे है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि 'रेहन पर रग्घू' और 'बाग़बान' फिल्म आज के कटु परिवेश की सच्चाई को उभारता है। रिश्तों में आए बनावटीपन और दिखावटीपन से संबंधों की गरिमा समाप्त होती जा रही है। रिश्ते टूटकर इतना बिखर गए है कि उन्हें अब सहज के रख पाना मुश्किल काम हो गया है। इस उपन्यास

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

और फिल्म में अपनों से मिलने वाले दुःख-दर्द, प्रेम के ढोंग में फैले प्रपंच और संवेदनाओं का क्षरण इसके मूल में है जो इस उपन्यास और फिल्म की मुख्य धुरी है, जिसकी परिधि में टूटते हुए वृद्ध की कहानी है।

ब. सामाजिक समस्या

मनुष्य संघजीवी प्राणी है। उसका जन्म, विकास एवं अंत समाज में ही होता है। समाज से कटकर उसका कोई अस्तित्व शेष नहीं रह जाता है। भू-लोक पर सबसे अधिक बुद्धिमान और संवेदनशील प्राणी अगर कोई है तो वह केवल मनुष्य है। जो अपनी चिंतनशील प्रक्रिया के द्वारा समाज को उचित गति से मार्गप्रदर्शित कर उसे व्यवस्थित एवं नैतिक मूल्यों की दृष्टि से सबल बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है। समाज और समाज के मूल्यों के संबंध में डॉ.रवीन्द्र दरगन का कथन है किः "सामाजिक मूल्यों के अंतर्गत हम व्यक्ति और समूह के उस आचार-व्यवहार को ले रहे है जो समाज की दृष्टि में श्रेष्ठ माना जाए। किसी समाज में दीर्घकाल से चली आती परम्परा ही ऐसे मूल्यों का निर्धारण कर देती है। इन मूल्यों का उद्देश्य समाज में सुव्यवस्था बनाये रखना होता है जिससे व्यक्ति और समूह दोनों का हित-सम्पादन हो सके।"[1]

समाज का संरचनात्मक विकास एक चरणबद्ध तरीके से हुआ है। जिससे समाज में मूल्यों का स्थापन एवं व्यवस्थीकरण हुआ है। समय-समय पर समाज के यह मूल्य देश-काल, वातावरण एवं परिवेश के कारण परिवर्तित होते रहते है। कोई भी समाज अपनी परम्परों और मान्यताओं को छोड़कर अधिक आधुनिक और नवीन बनने का प्रयास करता है तो उसे निश्चित रुप से समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। वर्तमान में रीति-रिवाज, परंपराएँ और मान्यताएँ बहुत रूढ़ हो गयी है। आज लोकतंत्र है सब को अपनी स्वतंत्रता, निजता और निर्णय लेने का अधिकार है। समाज में फैले जातिवादी कोढ़, छुआ-छूत, क्षेत्रवाद, दहेज़ एवं पर्दा प्रथा जैसी कुप्रथाओं से बचने और बचाने के लिए स्वस्थ मस्तिष्क से विचार करना आवश्यक है। समाज का संरचनात्मक विकास चरणबद्ध तरीके से हुआ

[1] आधुनिक हिंदी कविता -सांस्कृतिक मूल्य, पृ.-१८७

है जिससे समाज में मूल्यों का स्थापन एवं व्यवस्थीकरण हुआ है। मूल्य परिवर्तन के संबंध में रेणु व्यास ने लिखा है: "भूमंडलीकरण विश्वग्राम नहीं, विश्व बाजार बना रहा है, जिसमें हर चीज बिकाऊ है- कार-मोबाइल-लेपटॉप ही नहीं, जल-जंगल-जीवन ही नहीं, सामाजिक आदर्श, सिद्धांत एवं नैतिक मूल्य, पारिवारिक रिश्ते, जीवन-शैली, जमीर और ईमान तक भी"[1] आदिकाल में नैतिक आदर्श और सामाजिक मूल्य मनुष्य के लिए प्रमुख हुआ करते थे और होने भी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है लेकिन जो मूल्य समाज के लिए पहले उपयुक्त समझे जाते थे, वह अब भूमंडलीकरण, आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण और उपभोक्ता केंद्रित बाजारवाद ने उनको विघटित कर के रख दिया है। जो मूल्य आज समाज के वाहक है, वह कतई आवश्यक नहीं है कि कल समाज में उन्ही मूल्यों का प्रचलन हो, उनकी उपयोगिता और महत्ता सिद्ध हो।

व्यक्ति जिस समाज में रहता है। उस समाज के मूल्यों एवं परम्पराओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। आज का समय, संकट और संक्रमण का समय है, ऐसे समय में अनेक प्रकार की कुरीतियाँ और विसंगतियाँ समाज के लोगों को प्रभावित करती है जिसके कारण समाज में उन्हें अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यदि परिवार में पहले से विघटन, मन मुटाव और एकजुटता न हो तो बेटी-बहन के विवाह की समस्याएँ और अधिक बढ़ जाती है। उपन्यास में रघुनाथ अपनी बेटी सरला की शादी के लिए पिछले कई वर्षों से वर की तलाश कर रहे है। समाज में फैली देहज जैसी कुप्रथा के कारण एक लड़का नहीं खोज पाते है। यह समस्या सिर्फ एक मात्र रघुनाथ की नहीं है अपितु समाज की प्रत्येक जाति व वर्ग के वृद्ध माता-पिता की समस्या है। इस संदर्भ में चौथीराम यादव ने लिखा है: "लगातार विस्थापन और पारिवारिक विघटन की पीड़ा झेल रहे रघुनाथ को तो आधुनिकता के रंग में रंगी बेटी सरला ने पहले ही तोड़ दिया था जिसके लिए वे पिछले छह-साल से प्रशासनिक सेवारत किसी सुयोग्य वर की तलाश कर रहे थे और हर जगह दहेज़ की सौदेबाज़ी आड़े आ रही थी।"[2]

---

[1] चौपाल , पृ.-१२४

[2] वही, पृ.-३६

उपन्यास में सरला अपने पिता रघुनाथ से ऐसी शादी करने से बिल्कुल मना कर देती है। जिसमें लेन-देन (देहज प्रथा) के रूप लाखों रुपयों की मांग हो। सरला दहेज़ प्रथा के विरोध में अपने पिता से अतंर्जातीय विवाह करने का प्रस्ताव रखती है। जो प्रशासनिक अधिकारी है और उसका प्रेमी है लेकिन उनके पिता रघुनाथ जो संजय के जाति से इतर विवाह करने पर अपने आपको समाज का कायल समझते है। वहीं सरला दहेज़ आधारित विवाह के विपक्ष और अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहती हैः "आप दूसरों की शर्तों पर शादी कर रहे थे, यहाँ मै करूँगी लेकिन अपनी शर्तों पर; आप मेरी 'स्वाधीनता' दूसरे के हाथ बेंच रहे थे, यहाँ मेरी स्वाधीनता सुरक्षित है; आप अतीत और वर्तमान से आगे नहीं देख रहे थे, हाँ मैं 'भविष्य' देख रही हूँ, जहाँ 'स्पेस' ही स्पेस है।"[1]

वर्तमान समाज में हमारे जन्मदाता माता-पिता समाज की चिंता का विषय बनकर रह गए है। जिन्होंने हमें जन्म दिया है, खिलाया-पिलाया, शिक्षा प्रदान की वही माता-पिता आज समाज के लिए चिंता का विषय बन गए इससे बड़ी त्रासदी हम लोगों के लिए क्या हो सकती है। जिस देश में राम और श्रवण कुमार जैसे आज्ञाकारी पुत्रों की कथाएँ बड़े गौरव से गाई जाती है, उस देश में माता-पिताओं की दुर्गति मन को विचलित कर देती है। पिछले कुछ दशकों में माता-पिता को समाज में लज़्ज़ित करने कृत्य उनके अपने बच्चें कर रहे है। जिसे देखकर मन में घोर लज़्ज़ा की अनुभूति होती है। उपन्यास में रघुनाथ का बड़ा बेटा संजय, जो माता-पिता के द्वारा तय किए कॉलेज के मैनेजर और पूर्व विधायक की लड़की से शादी न करके अपनी पसंद की लड़की से शादी करता है। जिसके कारण रघुनाथ को उनके कॉलेज के मैनेजर समय बे समय बेइज्जत करते है। भारतीय परंपरा की मान्यता है कि समाज में किसी व्यक्ति को अश्वासन देकर बाद में पलट जाना अशोभनीय एवं निंदा के योग्य माना जाता है। जिसके कारण वृद्धावस्था में रघुनाथ को नौकरी से हाथ धोना पड़ा और समय बे समय बेटे के इस कृत्य पर मैनेजर के द्वारा बुढ़ापे में बेज्जत एवं जलील होना पड़ता हैः "क्यों? उसे अमेरिका ले गया क्या बेटा?" हँसते हुए मैनेजर

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-५४

सोफा पर बैठ गए और टाँगें मेज पर फैला दीं- "मास्टर, शादी तुम्हारे बेटे में की, बधाइयाँ मुझे मिल रही है। सभी बोल रहे हैं कि कितना अच्छा हुआ कि घटिया आदमी का समधी होने से आप बाल बाल बचे।"[1]

माता-पिता अपनी जवानी में बच्चों की आवश्यकताओं और उनकी जरूरतों को पूरा करने के लिए अपनी सुख-सुविधाओं एवं लालसाओं को पूरा करना अपने लिए उचित नहीं समझते है। वह अपने सारे प्रलोभनों को ठोकर मार करके एक कुशल माता-पिता का फ़र्ज़ अदा करते है। इस स्थिति में प्रत्येक माता-पिता की यही कामना रहती है कि वृद्धावस्था में बच्चे उनका सहारा बनकर और उनके स्वप्न को पूर्ण करेंगे। फिल्म 'बाग़बान' में अमिताभ बच्चन (राज मल्होत्रा) सेवानिवृत होने से पहले अपनी सारी कमाई अपने बच्चों की जरूरतों को पूरा करने में लगा देते है। फिल्म में राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) अपनी लालसा का जिक्र (हेमा मालिनी) पूजा मल्होत्रा से उस वक्त करते है, जब उनके हाथ में कुछ नहीं है। वह फिल्म में एक खूबसूरत गाड़ी को देखकर निहारने लगते है। उनका स्वप्न था कि उनके पास अपनी खुद की एक गाड़ी हो जिसमें बैठकर वह कहीं घूमने जाए और रास्ते में रुककर कहीं चाट-आइसक्रीम खाए। गाड़ी कम्पनी का कर्मचारी उन्हें गाड़ी की खासियत बताने का प्रयास कर उन्हें गाड़ी चलकर अनुभव लेने की बात करता है। गाड़ी अनुभव के उपरांत कर्मचारी उन्हें जबर्दस्ती खरीदने का दबाव बनाता है। जिसे वह साफ़ लफ़्ज़ में मना कर देते है। जिसकी प्रतिक्रिया में वह व्यक्ति राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) की लाचारी का मज़ाक उड़ाते हुए उनको सड़क पर बेइज्जत करता। उस स्थिति में एक बुज़ुर्ग की इज्जत उझलने पर क्या पीड़ा रही होगी उसकी कल्पना शायद आज की नौजबान पीढ़ी नहीं कर सकती हैं-

"कम्पनी कर्मचारी (गजेंद्र चौहान)- अरे! सर आज के जमाने में कार कौन सी बड़ी चीज है, आपने सोचा और गाड़ी की चाबी आपकी जेब में...एक काम करते है लोन के बारे में आपको समझाता हूँ।

राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- अरे! आप तो हमारे पीछे पड़ गए हैं, भाई साहब हमने आपसे कहा कि हमें गाड़ी नहीं खरीदनी आई कांट अफोर्डएड...इस समय हमारी खरीदने की हैसियत नहीं...हमारी

---

[1] रेहन पर रग्घू, पृ.-४६

कम्पनी कर्मचारी (गजेंद्र चौहान)- हैसियत नहीं हैं तो इतनी शानदार गाड़ी में बैठने की जुरत कैसे की...चलिए यहाँ से...

राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- अरे!

कम्पनी कर्मचारी (गजेंद्र चौहान)- गेट लॉस्ट

राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- अरे! क्या बतमीजी है।"[1]

वर्तमान समय में प्रेम का स्वरुप परिवर्तित हो गया है। प्रेम का संबंध हृदय से प्रारम्भ होकर हृदय में समा जाना हुआ करता था लेकिन अब प्रेम या तो भविष्य का गुणा-भाग करके या शरीर के आकर्षण एवं खूबसूरती को देख कर किया जाता है। जिससे उसकी काम-वासनाओं एवं अन्य उदेश्यों की पूर्ति हो सके। प्रेम के बदले स्वरुप के कारण मानवीय भावनाओं का क्षरण हुआ है।

उपन्यासकार काशीनाथ सिंह ने प्रेम के बदले स्वरुप का चित्रण अपने उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में किया है। सरला रघुनाथ की बेटी है जो पढ़ी-लिखी और स्कूल की अध्यापिका है। वह अपने पिता रघुनाथ के बहुत नजदीक है और वह उनसे से बेहिचक बात करने वाली लड़की है। लेकिन वह अपने प्रेम संबंध का जिक्र अपने माता-पिता में से किसी से नहीं करती है। रघुनाथ जो कॉलेज के अध्यापक है। जिनकी नज़र पारखी है। उन्होंने दुनिया देखी है वह सरला को नज़र भर में देखकर पहचान जाते है और सरला को देखने के बाद सोचते है कि शरीर में ऐसा उभराव किसी पुरुष के संसर्ग के आने के बाद ही सम्भव हैं। भारतीय परिवेश में जब लड़की बड़ी और सयानी हो जाती हैं तो प्रत्येक वृद्ध माता-पिता अपनी बहन- बेटी के बारे में चिंतित हो जाते हैं "पिता ने बेटी को देखा-वह भी बदली सी लग रही थी जाने क्यों? अबकी उन्हें वह कोई लड़की नहीं युवती दिखाई पड़ी। उसे समीज सलवार में देखने की आदत पड़ गयी थी उन्हें- शायद! लेकिन उसका जो चेहरा इतना उदास और सूखा रहता था, वह इतना हरा भरा और प्रसन्न क्यों? यही नहीं, दुबले पतले शरीर में भी भराव और

---

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

आकर्षण आ गया था। ऊबड़ खाबड़ समतल सीने पर गोलाइयाँ उभार के साथ पुष्ट नज़र आ रही थी! रघुनाथ का अनुभव बता रहा था कि ऐसा किसी मर्द के संसर्ग और हथेलियों के स्पर्श के बगैर सम्भव नहीं लेकिन मन कह रहा था कि ऐसा खाने पीने की सुविधाओं और निश्चिन्तताओं के कारण है।"[1]

आज के अधिकांश नव युवक-युवतियों के लिए प्रेम एक प्रकार से अपनी यौन आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रेम है। ऐसा प्रेम लम्बे समय तक टिक नहीं पाता है और उनका प्रेम एन्जॉयमेंट का रूप धारण कर लेता है। उपन्यास की महिला पात्रों में चाहे सरला हो, मीनू तिवारी हो या बेला पटेल सभी की सोच और मानसिकता एक जैसी है। वहीं दूसरी ओर पुरुष पात्रों में कौशिक सर हो या माइकेल कर्मा उनकी सोच भी इसी प्रकार की है जो प्रेम की आड़ में काम वासना को शांत करना चाहते हैं। इन पात्रों की यह सोच केवल काल्पनिक नहीं बल्कि आज की पीढ़ी की सोच को दर्शाता है। इसी सोच को उपन्यासकार चित्रित करने के लिए सरला के मुख से कहलवाता हैः "प्यार बन्द और सुरक्षित कमरे की चीज नहीं। खतरों से खेलने का नाम है प्यार। लोगों की भीड़ से बचते बचाते, उन्हें धता बताते, उनकी नजरों को चकमा देते जो किया जाता है- वह है प्यार! शादी से पहले यही चाहती थी सरला। शादी के बाद तो यह विश्ववासघात होगा, व्यभिचार होगा, अनैतिक होगा। जो करना है, पहले कर लो। अनुभव कर लो एक बार। मर्द का स्वाद! एक ऐडवेंचर! जस्ट फॉर फन!"[2] सरला अति आधुनिकतावादी लड़की है। वह जवानी में सभी राग-रस का अनुभव और स्वाद का आस्वादन करना चाहती है लेकिन प्रो.कौशिक के साथ उसका अनुभव अच्छा नहीं रहा है जिससे जल्द ही उन दोनों के बीच संबंध के टूट जाते है।

जब फिल्म में पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) अपनी पोती पायल मल्होत्रा (रिमी सेन) को एक लड़के के साथ देखती है तो उन्हें पहेली नज़र में ही वह लड़का ठीक नहीं लगता है। जब पूजा मल्होत्रा अपनी पोती पायल से घर देर से लौटने की वजह पूछती है तो वह उन्हें अपने व्यक्तिगत जीवन में दखल न देने की सलाह

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-५०

[2] वहीं , पृ.-३१

देती है। लेकिन जिस दिन वैलेंटाइन डे था उस रात पायल बहुत सज सँवरकर निकल रही होती है जिससे दादी माँ पूजा मल्होत्रा को उस पर शक हो जाता है। इसके अतिरिक्त जिस लड़के के संपर्क में पायल है, उस लड़के के आचरण ठीक नहीं हैं जिसके कारण वह वृद्धावस्था में अपनी पोती के भविष्य के लेकर चिंतित दिखाई देती है। बुढ़ापे की इस उम्र में अपने कुल की इज्जत बचाने के लिए उसके पीछे-पीछे उसी रेस्तराँ में पहुँच जाती है जहाँ वह लड़का पायल को जबरदस्ती ऊपर ले जाकर उससे अश्लील और अभद्रता करने का प्रयास करता है। लड़का कहता है– "साला, एक तो यह आधे-आधे कपड़ पहनकर हमारा खून गर्म करती हो, हमें इनवाइट करती हो और फिर यह सती-सावित्री होने का नाटक करती हो...हाँ।"[1] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रेम-मोहब्बत का स्तर समाज में किस पायदान पर खड़ा है, जिसमें स्त्री-देह अतृप्त काम वासनाओं की पूर्ति और वेहशीपन का साधन बन गया है।

मीनू तिवारी और माइकेल कर्मा के प्रेम कीड़ा का जो वर्णन काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में किया है। वह भावुक और रोमांस की सीमा को पार करने वाला अवश्य हैं किन्तु यह आधुनिक युग की उपभोक्तावादी सोच का परिणाम है। मीनू तिवारी और सरला जैसी लड़कियाँ विवाह नहीं करती है और दोनों समाज में आजीवन अविवाहित रह जाती है। उपन्यास में मीनू तिवारी स्वयं कहती है: शादी जब पिता जी ने करनी चाही तो मैंने नहीं की और जब मैंने करनी चाही तो काफी देर हो चुकी थी! और यह भाई! अगर कर लेती तो इसके आय के स्रोत का क्या होता है? नहीं होने दी इसने किसी न किसी बहाने।"[2] समाज में प्रेम के स्वरुप में आए परिवर्तन के विषय पर अपना दृष्टिकोण स्थापित करते हुए सदाशिव श्रोत्रिय ने अपने लेख में लिखते है: "सरला और मीनू जैसी विचारशील स्त्रियों की मांगे अमूर्त और भावनात्मक होने के कारण अधिक

---

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

[2] रेहन पर रग्घू , पृ.-४१

जटिल हैं और यह जटिलता उनकी पूर्ति को भी मुश्किल बना देती हैं वस्तुतः बढ़ते हुए व्यक्तिवादी सोच ने पारंपरिक वैवाहिक ढांचे को पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दिया हैं।"[1]

सोनल और समीर का प्रेम आधुनिकता और आवश्यकता की चादर में लिपटा हुआ प्रेम है। जैसा उपन्यास में वर्णित किया गया है कि अमेरिका में जब संजय का व्यवहार सोनल के प्रति काफी उदासीन हो जाता है या सोनल अपने पति संजय और आरती गुर्जर के साथ बाहर कहीं जाती है तो वह अपने को अलग थलग महसूस करती है। ऐसी स्थिति में सोनल अपने पहले प्रेमी समीर को याद करती है। वह अमेरिका से लौटकर वापिस अपने शहर आती है तो उसे पुनः अपने पहले प्रेमी की याद आने लगती है। बनारस के अशोक विहार में व्यवस्थित होने के बाद पहले ही दिन जब वह अपने को अकेला महसूस करती है तब उसे अपने पुराने कॉलेज के दिनों की याद आती है कि समीर राजनीति में सक्रिय होकर बिहार के एक राजनीतिक समूह से जुड़ गया था और प्रत्येक हफ्ते मिलने आता था। ऐसी तमाम यादें उसके मन में बार आकर उसे कचोट रही थीः "वह हफ्ते में एक बार पटना आता और पूरा दिन सोनल के साथ बिताता। उसका सपना था कि वे शादी करेंगे और अपना जीवन किसानों की खुशहाली के लिए समर्पित कर देंगे।"[2] लेकिन कभी-कभी ईश्वर को कुछ और ही मंजूर होता है जैसा हम सोचते हैं वैसा नहीं होता है। कुछ यही स्थिति उपन्यास में सोनल और समीर के बीच रही। सोनल समीर से शादी करने की बात अपने पिता सक्सेना को बताती है और समझाने का प्रयास भी करती है। लेकिन उनके पिता अपनी बेटी के भविष्य को मद्देनज़र रखते हुए उसकी शादी संजय से करवाना उचित समझते है। संजय और सोनल की शादी तो अवश्य हुई परन्तु उनमें पति-पत्नी जैसा प्रेम न हो सका।

अमेरिका से लौटने से पूर्व सोनल को संजय और आरती के प्रेम-संबंधों का पता था लेकिन सोनल ने यह अनुमान नहीं लगाया था कि संजय और आरती कभी शादी कर लेंगे। जब उसको पता चलता है कि संजय ने दूसरी शादी कर ली तो वह अपने आप में बहुत हताश और निराश होती है। संजय के पिता रघुनाथ को संजय

[1] चौपाल , पृ.-७४

[2] रेहन पर रग्घू , पृ.-११३

की दूसरी शादी के बारे में बताते हुए बहुत परेशान होती है और एक पल को ऐसा लगता है जैसे वह संजय की जगह रघुनाथ से झगड़ रही है। वृद्धावस्था में रघुनाथ अपने बेटे के इस कृत्य से अपने को लज्जित और अपराध बोध से ग्रस्त समझते हैः "यह अच्छा नहीं लग रहा था कि वह उनसे ऐसे बात करे जैसे वही संजय हो! गलती उनके बेट ने की थी लेकिन अपराधबोध से ग्रस्त वे थे! वह भीतर से डरे और सहमे हुए भी थे!"[1] सोनल शीघ्र ही कुछ दिन में परिस्थितियों से मुकाबला करके जीवन की नई राह के रूप में समीर के साथ प्रवाहित होने लगती है। हालांकि रघुनाथ को सोनल और समीर के छुपे ढ़के प्रेम के बारे में पता चल जाता है लेकिन उन्हें अब इस अवस्था में किसी से कोई शिकायत और विरोध नहीं है।

संजय और आरती गुर्जर का प्रेम सम्बन्ध पूरी तरह से बाजारवाद और उपभोक्तावाद संस्कृति से प्रभावित है। संजय अपनी आवश्यकताओं के कारण सोनल को तलाक दिए बिना ही आरती से शादी से करता है।

उपन्यास में धनंजय और के.विजया लिव-इन-रिलेशनशिप में रहते है। के.विजया दिल्ली के एक कॉर्पोरेट कम्पनी में कार्यरत है जिनके पति की मृत्यु कुछ दिनों पूर्व एक सड़क दुर्घटना में हो गयी थी। पति की मृत्यु के बाद के.विजया भावनात्मक रूप से पूरी तरह से टूट गयी थी। इस स्थिति से बाहर निकलने के लिए उन्हें किसी पुरुष की आवश्यकता हैं जो धनंजय के संसर्ग से पूरी हो जाती है जो अपनी आवश्कताओं को बिना कुछ किए पूरी करना चाहता है। इस स्थिति में वह एक-दूसरे का सहारा बनते है। उनके इस संबंध में कहीं भी प्रेम की झलक देखने को नहीं मिलती है। अपने-अपने स्वार्थो को पूरा करने की दृष्टि ही उपन्यास में चित्रित की गई है। वृद्धों की सामाजिक समस्याओं में प्रतिदिन बढ़ोतरी हो रही है। युवकों की पलायन स्थिति को भाँपते हुए और वृद्धों के प्रति अपनी चिंता व्यक्त करते हुए प्रभाकर श्रोत्रिय ने वागर्थ पत्रिका की सम्पादकीय में लिखा हैः "पिछले कुछ दशकों में शहरों की ओर पलायन की प्रवृति बढ़ी हैं, क्योंकि गाँवों में खेती, रोजगार, सुरक्षा

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१३८

और स्वास्थ्य सुविधाओं की हालत चिंताजनक हैं परन्तु यह स्थानांतरण युवकों और अधेड़ों का है और इससे ग्राम-वृद्धों की दुर्दशा हुई है।"[1]

युवाओं का अपनी जीविका और शिक्षा के लिए महानगर या विदेशों में स्थानतंरण वृद्धों को अपने बच्चों से मिलने वाले भावात्मक सुख और भौतिक सहारे से वंचित करता है। धीरे-धीरे परिस्थितियाँ अब इतनी भयानक हो गयी है कि बच्चें अब एक बार घर से बाहर शहर आ जाए, वह लौटकर अपने घर-गाँव और माता-पिता के बारे में नहीं सोचना चाहते है, लेकिन बेचारे माता-पिता का इसमें क्या कसूर है जो आपकी प्रतीक्षा में दिन-रात आशा लगाए रहते है। वह हमेशा यही सोचते हैं कि उनके अपने बच्चें एक न एक दिन उनसे मिलने अवश्य आएंगे लेकिन वह उनकी मृत्यु में दाह-संस्कार करने तक नहीं आते है। उन्होंने तो आपको आपकी उन्नति और तरक्की के लिए भेजा था। समस्या तब और गंभीर हो जाती है जब वृद्ध माता-पिता अपनी धन सम्पति सब कुछ अपने बच्चों के हाथ में रख देते हैं और उनके साथ शहर में रहने का विचार बना लेते है। अधिकांशतः ऐसी स्थिति में देखा जाता है कि उनके बच्चें प्रारंभ में उनकी अच्छी तरह से देखभाल करते है लेकिन बाद में उनके प्रति उदासीनता का भाव या टकराहट का होना शुरू हो जाता है।

काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में युवाओं के पलायनवाद से उत्पन्न वृद्धों की समस्याओं को दिखाया है। रेहन पर रग्घू में सोनल जब अमेरिका से लौटकर बनारस शहर में आकर रहती है तो शहर के आक्रांत परिवेश और कॉलोनी के भय से बचने के लिए अपने सास-सुसर को प्रेमपूर्वक ससम्मान अपने साथ लेकर आती है। जिस दिन संजय की माँ सोनल के घर अशोक विहार में रहने आती है उस दिन और उसके चार-छः दिन तक वह अपनी बहू के प्रेम, चिंता और परवाह से अपने को गदगद महसूस करती है। जैसाकि उपन्यास में वर्णित है: "जिस लड़की से कोई पूर्व परिचय नहीं, कोई रिश्ता नाता नहीं, यहाँ तक कि न अपनी जात की, न कुल की, न संस्कार की- वह शीला के पीछे मरी जा रही थी- 'मम्मी, चाय पी?' 'मम्मी,

---

[1] वागर्थ , सम्पादकीय

नाश्ता किया?' 'मम्मी, नहा लिया?' 'मम्मी, खाना खाया?' मम्मी, 'कोई जरुरत?' "[1] कुछ दिनों के बाद से बहु के व्यवहार और आचरण में सास के प्रति फर्क दिखाई देने लगता है। वह अपनी सास को समय-समय पर छोटी मोटी-बातों के लिए टोकती है, कभी हिदयात देती है तो कभी क्रोधित दिखाई देती है। परिणामस्वरुप शीला बहुत आहत और दुखी होती है। इस स्थिति को शीला तो भली भाँति न समझ सकी लेकिन इस स्थिति को रघुनाथ ने समय से पहले भाँप लिया जिससे उनकी स्थिति में कम अंतर आया और उन्होंने अपने को उसी स्थिति में ढाल लिया। रघुनाथ कहते है किः "उसने जैसे ही शुरू किया वैसे ही रघुनाथ ने टोका- "सही कहा उसने! बहू को सुनने और उसके साथ रहने की आदत डालो!"

"क्या? तुम्हारा भी यही कहना है!"

"नहीं मेरा यह नहीं कहना है। मेरा यह कहना है कि जिसके घर में रहती हो, जिसका खाती हो, पहनती हो, उसे अनसुना मत करो। वह करो जो वह चाहती हैं!"[2] समय के साथ-साथ समाज में लोगो का चाल-चलन, उनकी भूमिका, उनके रिश्ते-नाते सब कुछ बदल जाते है। जिन रिश्तों के लिए वे अपनी जान दिया करते थे, आज वही रिश्ते उनके लिए जी का जंजाल बनकर रह गए है। वृद्धावस्था में वृद्ध न उन्हें छोड़ने की स्थिति में होते है और न उनकी जली-कटी बातों को सुनने में सक्षम होते है। इसी स्थिति को उपन्यास में रघुनाथ और शीला भोगते हुए दिखाई देते है। उपन्यास में रघुनाथ कहते हैः "अरे, बहू से तो पूछ लो। अपने से नहीं आई हो तुम, वही लाई है!"[3] यही स्थिति कमोवेश 'बाग़बान' फिल्म में देखने को मिलती है। राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) सेवानिवृत होने से पहले अपने अपनी आय और भविष्य निधि का पैसा बच्चों के भविष्य बनाने में खर्च कर देते हैं। जब वह सेवानिवृत हो जाते हैं तो वह अपना मन बच्चों के साथ उनके घर रहने का बनाते है। अब उनके पास न आय कोई स्रोत हैं और न रहने के लिए घर। शुरुआत से उनके बच्चें उन्हें अपने साथ नहीं रखना चाहते

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-११८

[2] वही, पृ.-१२१

[3] वही, पृ.-१२२

थे लेकिन फिर भी वह अपने घर ले आते हैं। प्रारंभ में कुछ दिनों तक उनके प्रति उनके बहू-बेटों का व्यवहार प्रत्यक्ष रूप से ठीक था लेकिन जैसे जैसे दिन बढ़ते गए वैसे वैसे उनके प्रति उनके व्यवहार में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तन आना शुरू हो जाता है। जिससे वह अकेले में बैठकर छिप छिप कर रोया करते थे। फिल्म में हेमंत पटेल की भूमिका अदा करने वाले परेश रावल राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) के बेटों से कहते हैः
"हेमंत पटेल (परेश रावल)- नहीं शांति, यह लोग पूछने के लिए नहीं आए हैं कि इनके माता-पिता किधर है, यह लोग यह जानने के लिए आए है कि वह जिन्दा है कि मर गए है, अगर मर गए है तो उनका क्रियाकर्म कौन करेगा और बदकिस्मती से बच गए है तो उनका इलाज कौन करवाएगा?

हेमंत भाई 'प्लीज'

हेमंत पटेल (परेश रावल)- प्लीज मुझे मेहरबानी करके भाई मत बनाओ, मुझसे रिश्ता बनाने की कोशिश मत करना, जिसके साथ तुम्हारा खून का रिश्ता था उसको तुमने खून के आँसू रुलाया, इधर बैठकर छिप-छिप कर रोते थे वो..."[1] समाज में वृद्धों को इस स्थिति में पहुँचाने के लिए काफी हद तक आधुनिक समय की उपयोगितावादी सोच और बाज़ारवादी प्रवृतियाँ जिम्मेदार है जिससे वृद्धों की भावनात्मक दुनिया त्रासद हुई है।

व्यक्ति जिस समाज में जन्म लेता है उस समाज से उसका गहरा रिश्ता-नाता होता है। उन रिश्तों में भावों, विचारों और संवेदनाओं की गहरी पकड़ होती है। व्यक्ति के जीवन जीने की पद्धिति, उसके व्यवहार-आचरण से मानवीय संबंधो को सबल मिलता है। मनुष्य ने आदिकाल से लेकर आधुनिकाल तक अपने रागात्मक संबंधों की बढ़ोतरी और विकास के लिए मानवीय सबंधों और संवेदनाओं को विकसित करने का प्रयास किया है। वर्तमान समय में व्यक्ति मानवीय संबंधों और संवेदनाओं को दरकिनार कर अर्थ पर केंद्रित होकर जी रहा है जिससे उसकी सोच समझ प्रभावित होती है और हो रही है। इन्ही संबंधों से प्रभावित होकर

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

हमारे तीज-त्यौहार, उत्सव, खान-पान और जीवन शैली में परिवर्तन आया है। आज व्यक्ति ऐसे समाज में जी रहा है जिसमें उसे अकेलापन, अजनबीपन, संत्रास, कुँठा आदि से विवश होकर अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। जिसका प्रभाव किसी एक व्यक्ति पर नहीं पड़ता है वरन् पूरे समाज पर प्रभाव पड़ रहा है। मानवीय संवेदनाओं के अभाव में मनुष्य का मनुष्य बना रहना मुश्किल है। वर्तमान समाज की विडंवना है कि इसमें मानवीय संवेदनाओं का क्षरण औसत से कहीं अधिक हुआ है। जब समाज में इसका ह्रास होने लगता है तो समाज में मनुष्य, मनुष्य नहीं रहता है। काशीनाथ सिंह ने इस स्थिति को 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में कई बार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जिसमें वह सफल भी रहे हैं। काशीनाथ सिंह के कथासाहित्य में मानवीय मूल्य एवं संवेदना के ह्रास पर परमानंद श्रीवास्तव ने लिखते हैः "काशीनाथ सिंह उन लेखकों में अन्यतम हैं, जिनकी आज की मानवीय नियति के सामने चुनौतियों में न सिर्फ दिलचस्पी है, बल्कि जो उसके सीधे साक्षात से आज के व्यापक यथार्थ की अपनी सक्रिय जाँज पड़ताल को अधिक प्रासंगिक और जीवंत बनाने के सचेष्ट हैं।"[1]

स. आर्थिक समस्या

आधुनिक समाज में मनुष्य ने अपने जीवन को पूरी तरह से परिवर्तित कर लिया है लेकिन उसने वृद्धावस्था और उससे उत्पन्न होने वाली समस्या को परिवर्तित नहीं कर पाया। व्यक्ति जब तक युवा होता है तब तक अर्थोपार्जन करता है। उसी से अपने परिवार का पालन-पोषण करता है। जब वह वृद्धावस्था में प्रवेश करता है तब उसके पास न तो कोई नौकरी शेष रहती है और न किसी प्रकार का मेहनतपूर्ण काम करने के लिए शारीरिक शक्ति। जीवन की इस संध्या में वृद्धों के समक्ष जो सबसे बड़ी समस्या खड़ी होती है- वह है उनके लिए आर्थिक रूप से उनका कमजोर होना। एक ओर तो वृद्धावस्था में पहुँचते-पहुँचते वह शारीरिक रूप से पहले ही कमजोर हो जाते हैं जिससे वह कोई भी कार्य अपनी कुशलतापूर्वक पूर्ण नहीं कर पाते है। कुशलता

[1] आठवें दशक की कहानी , पृ.-३८

से कोई भी कार्य न कर पाने उन्हें कोई भी काम नहीं देता है। एक स्थिति उनके सामने ऐसी आ जाती है कि वह अपने को बेकार और अर्थाभाव से क्षीण समझते हैं। आयु के इस पड़ाव में आय के कोई साधन न होने के कारण उन्हें अपने बेटे-बहू से अपमान झेलना पड़ता है। वास्तविकता तो यह है कि इन वृद्धों के पास न अपने बहू-बेटों के पास देने के लिए कुछ है और न अपना पेट भरने के लिए। ऐसे में इन वृद्धों को न तो परिवार में सम्मान और आदर मिलता है और न समाज में। वृद्धावस्था और अर्थाभाव की दोनों स्थितियों की मार इन वृद्धों पर एक साथ पड़ती है। लेकिन जो व्यक्ति अपनी युवावस्था में अपने बुढ़ापे के लिए कुछ बचा कर रखते है उनका बुढ़ापा कुछ ठीक-ठाक गुज़र जाता है। वहीं दूसरी ओर जिन व्यक्तियों ने अपने बुढ़ापे के लिए कुछ भी बचाकर नहीं रखते है उनका जीवन इस अवस्था में नरकीय हो जाता है।

सेवानिवृत होने से पहले व्यक्ति अपने जीवन के तीस-चालीस साल कमाने में, घर बनाने, बच्चों के भविष्य बनाने में लगा देता है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है उसके मन में यह डर सताने लगता है कि नौकरी से सेवानिवृत होने के बाद उसका क्या होगा? उसके घर का खर्च कैसे चलेगा? घर पर बैठकर क्या उसके बच्चे उसे दो वक्त की रोटी देंगे? या कोई उसे वृद्धाश्रम में तो नहीं भेज देंगे? सबसे बड़ी समस्या उस वक्त सामने आती है जब सेवानिवृत होने से पूर्व आपकी बेटी की शादी होना शेष रहता है। ऐसी परिस्थिति में पिता को सेवानिवृत से पूर्व बेटी के विवाह की चिंता अधिक होती है। कुछ इसी प्रकार की परिस्थिति का जिक्र काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में किया है। जब रघुनाथ का बेटा अन्यत्र शादी कर लेता है तब मैनेजर रघुनाथ से अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए उसे निलंबित करने का मन बना लेता है। जब यह बात रघुनाथ को पता चलती है तो वह अपने सहयोगी प्रिन्सिपल से मदद माँगते हैं लेकिन प्रिन्सिपल उन्हें वी.आर. एस. लेने की सलाह देते हैं। इस पर रघुनाथ उनसे आग्रह करते हैं कि जब तक बेटी की शादी न हो जाए तब तक उनका निलंबन को रोके रहें।

"रघुनाथ बहुत देर तक चुप रहे! उनसे कुछ बोला नहीं गया!

"ठीक है लेकिन मेरी एक मदद करें आप!"

"बोलो क्या कर सकता हूँ मैं?"

"निलम्बन आप तब तक लटकाए रखें जब तक बेटी की शादी न हो जाय! फिर तो वही करूँगा जो आपने कहा है!"[1]

यह स्थिति केवल एक रघुनाथ की नहीं है अपितु न जाने समाज के कितने रघुनाथ की है, अंतर सिर्फ इतना हो सकता हैं कि यहाँ पर रघुनाथ को एक प्रपंच के तहत निलंबित किए जाने की कोशिश की जा रही है जिससे वह सेवानिवृत के बाद एक एक पैसे के लिए मोहताज हो जाए। उनकी बेटी की शादी में आर्थिक अभाव की तस्वीर दिखाई दे इस सोच से मैनजर उनका वृद्धावस्था में निलंबन करना चाहता है।

वृद्धावस्था में वृद्धों की आय का कोई साधन न होने के कारण उन्हें धनाभाव का सामना करना पड़ता है। धनाभाव में वृद्धजनों के लिए बुढ़ापा एक अभिशाप सा प्रतीत होने लगता है। इस स्थिति का अनुमान 'बाग़बान' फिल्म में राज मल्होत्रा के जीवन से लगा सकते है। फिल्म में राज मल्होत्रा के सेवानिवृति के बाद उन्हें अनेक प्रकार कई आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। सेवानिवृत्ति के बाद राज मल्होत्रा के समक्ष सबसे पहली समस्या घर खर्च और रहने की आती है क्योंकि उन्होंने अपने समय में केवल बच्चों के भविष्य और उनकी जरूरतों को पहले समझा बाकि सभी जरूरतें उनके लिए अनौपचारिक थी। वह सेवानिवृत होने के बाद अपने बच्चों को चिट्ठी लिखकर अवगत कराते है कि मैं रिटायर हो चुका हूँ और अब हम आपके साथ रहना चाहते है। इस स्थिति पर राज मल्होत्रा(अमिताभ बच्चन) के बेटे की पत्नी रीना मल्होत्रा (दिव्या दत्ता) फोन पर अपनी सहेली टीना से कहती है कि "हेलो- हे! टीना क्या बताऊँ यार वहाँ पहुँचे तो पता चला संजू के पापा रिटायर हो गए है अब न तो उनके पास रहने का ठिकाना है, और न पैसे...क्या करते लाना पड़ा..."[2] जब इस बात को राज मल्होत्रा अपने कानों से सुनते हैं तो वह स्वयं अपने को अर्थाभाव के कारण

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१९

[2] संवाद (फिल्म बागवान से)

लज्जित महसूस करते हैं और सोचते हैं कि जिन बच्चों की खातिर हमने अपना सब कुछ हँसते-हँसते लुटा दिया वही बच्चें आज हमें असहाय समझ रहे हैं।

वृद्धावस्था में मनुष्य अपनी आधी से अधिक जिंदगी बच्चों को सुखी और आरामदायक बनाने के लिए लगा देता है। जब वह अपने जीवन काल की संध्या में होता है तब वह अपने स्वप्न को पूरा करना चाहता है जो उसने अपनी युवावस्था में देखे थे। जिसे वह बच्चों की जरूरतों और आवश्कताओं को पूरा करने के कारण पूर्ण नहीं कर सका। बुढ़ापे में प्रत्येक वृद्धजन का एक स्वप्न होता है कि उसके स्वप्न को उनके बच्चें पूरा करे लेकिन उनके अपने बच्चें उनके स्वप्न को बेकार और फालतू समझते हुए उस पर पैसे खर्च करना अपनी बेबफूफी समझते है। ऐसी परिस्थिति में वृद्धजनों को लगता है जैसे वह उनकी उपेक्षा करके उनके स्वप्नों को अपने जूतों तले रौंदने का प्रयास कर रहे है। 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में रघुनाथ का स्वप्न है कि गाँव में उनका अपना पक्का घर हो जिसमें वह अपने अंतिम दिनों को गुजार के अतिंम साँस उसी घर में ले। शुरुआत में उनके बड़े बेटे संजय ने इस काम में रुचि अवश्य दिखाई थी पर जैसे-जैसे समय गुजर रहा था वैसे-वैसे वह अपने पिता के स्वप्न को भूलकर अपने सपनों को रंगीन करने में प्रयासरत दिखाई देता है। एक-दो बार प्रारंभ में रघुनाथ ने इस विषय पर चर्चा की लेकिन अंत में संजय अपने पिता को उनके सपने के लिए पैसे खर्च न करने की हिदायत देता है: "उसे उनकी एक और एकमात्र इच्छा की भी जानकारी है- एक तरह से पिता की अंतिम इच्छा कि वे आखिरी साँस पहाड़पुर में बने नए घर में छोड़े! उन्होंने गाँव के पी.सी.ओ से शुरू में दो चार बार फोन करके याद भी दिलाया कि कुछ भेजो, जितना बन पड़े उतना ही सही, कम से कम ढांचा तो अपने रहते खड़ा कर दें। उसने भी आरम्भ में उत्साह दिखाया लेकिन आखिरी बार झल्ला कर कहा कि रुपए क्यों बरबाद करने पर तुले हुए हैं, उसके सदुपयोग के बारे में सोचिए! उसके बाद से ही रघुनाथ रूठ गए! न इन्होने फिर फोन किया, न उसने बात की!"[1]

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-११३

इस प्रकार प्रत्येक माता-पिता का अपनी जवानी में कोई न कोई स्वप्न होता है। जिसे वह अपने बच्चों के द्वारा पूर्ण होते देखना चाहते है। वर्तमान में स्थितियाँ इतनी परिवर्तित हो गयी है कि उनके बच्चें उन्हें आशियाना देना और दो वक्त की रोटी खिलाना मुश्किल समझते है। वह क्या उनके स्वप्नों को पूरा करेंगे! और अंत में आर्थिक अभाव और शारीरिक शक्ति की कमी होने के कारण वे अपने स्वप्नों को टूटते हुए देखते है।

फिल्म 'बाग़बान' में राज मल्होत्रा ने भी एक स्वप्न देखा था कि उनके पास एक खुद की गाड़ी हो जिसमें वह और उनकी पत्नी पूजा मल्होत्रा बैठकर कहीं सैर-सपाटे पर जाए लेकिन बच्चों की आवश्यकताओं को पूरा करने में एवं आर्थिक स्थिति दुरुस्त न होने के कारण वह स्वयं की गाड़ी खरीद नहीं पाते और बच्चों से उनका कहना ही क्या जो बच्चें उन्हें भरपेट खाना और रहने के लिए जगह नहीं दे सकते वह उन्हें गाड़ी क्या खरीद के देंगे! फिल्म में राजमल्होत्रा अपनी पत्नी से कहते है-

"राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- ओह! वॉव

पूजा मल्होत्रा (पूजा मल्होत्रा)- क्या देख रहे हो?

राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- वो सपना जो पूरा नहीं हो सका, जानती हो पूजा जब हमारी नई-नई शादी हुई थी, मेरा एक सपना था कि हमारी भी एक गाड़ी हो, मैं जब ऑफिस से वापिस आऊँगा, नीचे हार्न दबाऊँगा, तुम दौड़ी ऊपर से आओगी, मैं तुम्हारा हाथ पकड़कर बगल में बैठाऊँगा और हम एक लम्बी ड्राइव के लिए जाएँगे, फिर कहीं गाड़ी रोकर के हम चाट खाएँगे, आइसक्रीम खाएँगे...बच्चों के सपने पूरे करते-करते अपने सपने अधूरे रह गए लेकिन कोई बात नहीं।"[1] यह माता-पिता ही है जो अपने सपनों को अधूरा रखकर बच्चों के सपने पूरे करते रहते हैं लेकिन यह बच्चे न तो अपने माता-पिता की कद्र करते हैं और न उनकी इच्छा-आकांक्षाओं की उन्हें कोई परवाह होती है।

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

प्रत्येक वृद्धजन इतना सौभाग्यशाली नहीं होता है कि जीवन की अंतिम बेला तक वह आत्मनिर्भर बना रहे है। कहने का आशय यह है कि वृद्धजन के आय के स्रोत उसके भरण-पोषण के लिए जीवन पर्यन्त बने रहे। जैसे सेवानिवृति के बाद पेंशन प्राप्त करना, मकान-दुकान का किराया, अपनी पूंजी पर बैंक के द्वारा ब्याज प्राप्त करना एवं अन्य प्रकार से किसी प्रकार का आय का होना। यह प्रत्येक वृद्धजन के लिए संभव नहीं होता है कि वह अपनी जरूरतों का निर्वाह अपनी बची जमा पूँजी से कर सके।

अतः वृद्ध आर्थिक रूप से अपनी जरूरतों और आवश्यकतों को पूरा करने के लिए अपने बेटे-बेटी आदि परिजनों पर आश्रित होते हैं। इन वृद्ध माता-पिता के व्यक्तिगत खर्च परिजनों की आय से ही पूरे होते है। कहना यह है कि वह पूरी तरह से अपने परिजनों पर निर्भर होते है जिससे उन्हें कई बार असहज स्थितियों को सामना करना पड़ता है जिसमें इन वृद्धों का आत्म सम्मान दाँव पर लग जाता है। कभी-कभी इन बुजुर्गों की आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती है और कभी अपूर्ण रह जाती है। बीमारी में आर्थिक अभाव वृद्धों के मन को कचोटता है जिसके कारण वृद्धों को मानसिक वेदना और आत्मग्लानि का सामना करना पड़ता है। जिससे वृद्ध अपने जीवन को निरर्थक समझने लगते हैं। जब इस समस्या को वृद्ध महिला को केंद्र में रखकर सोचने और समझने का प्रयास करते है तो यह अनुभव किया जाता है कि अधिकांश वृद्ध महिला जो पहले से ग्रहणी है और अपने पति पर आर्थिक रूप से निर्भर रही है बाद में वह अपने बच्चों एवं परिजनों पर निर्भर हो जाती है। उनके लिए आर्थिक परनिर्भरता कोई विशेष व्यथा का कारण नहीं हैं। अतः उनके लिए सिर्फ परनिर्भरता के स्रोत बदल जाते है लेकिन फिर भी यह समस्या अवश्य हैं इसे समझने की आवश्यकता है। पुरुष जिसने पहले सम्पूर्ण परिवार का निर्वाह किया है, जिसका परिवार पर वर्चस्व रहा है, उसका परिवार के किसी सदस्य पर आश्रित हो जाना उसके आत्मसम्मान के लिए बहुत दुखदायक होता है। जिससे उसे कभी ग्लानि का और कभी लज्जित होने का अहसास होता है।

फिल्म निर्देशक 'रवि चोपड़ा' ने अपनी फिल्म 'बाग़बान' में इस स्थिति को बेहद बखूबी से दिखाया है। जब राज मल्होत्रा का चश्मा जमींन पर गिरकर टूट जाता है। वह अपने चश्मे को ठीक करवाने के लिए अपने

बेटे संजय मल्होत्रा(समीर सोनी) से कहते है लेकिन उनका बेटा संजय पैसे न होने का झूठा बहाना बनाकर इस महीने ठीक न करवाने के लिए कहता है। जबकि उसके पास पैसे का किसी प्रकार से अभाव नहीं है। घर के अन्य घरेलू कार्य सभी सुचारु रूप चल रहे, उस परिस्थिति में राज मल्होत्रा के मन में अपने को आर्थिक रूप से अक्षम होने का बोध होता है।

"राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- अरे! बेटे

संजय मल्होत्रा (समीर सोनी)- हाँ! डैड

राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- यह मेरा चश्मा वहाँ गिर कर टूट गया इसे ठीक करवा दोगे, तुम्हारी मम्मी की चिट्ठी आई है, पढ़ना है मुझे।

संजय मल्होत्रा (समीर सोनी)- डैड इस महीने तो पॉसिबल नहीं होगा वह क्या है न महीने का आखिर है तो हाथ भी कुछ ठीक नहीं है।

होप योर अंडरस्टैंड! डैड, पर डैड अगले महीने पक्का, प्रॉमिस"[1]

जीवन के संध्याकाल में वृद्ध का आत्मनिर्भर होना उसके लम्बे जीवन का वरदान है। लेकिन ऐसा वृद्धों होना वृद्धों के लिए बहुत मुश्किल है। अंत में कहा जा सकता है कि वृद्धों के लिए आर्थिक परनिर्भरता एक बहुत जटिल और ज्वलंत समस्या है। वर्तमान में वृद्धजनों की स्थिति के सन्दर्भ में लेखिका क्षमा शर्मा लिखती है: "अपनों द्वारा ठुकराए जाने का जो मलाल होता है, उसका क्या कोई इलाज है? उस अकेलेपन और अपमान के अहसास का क्या जो उनके करीबी जन उन्हें कराते है? वे बार-बार यह अहसास दिलाते है कि उनकी जरूरत अब घर में तो क्या इस धरती पर ही नहीं रही। उन्होंने जिनके लिए अपनी उम्र और अपने सारे संसाधन लगा दिए, वे ही दो जून की रोटी के लिए दुत्कारते है।"[2]

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

[2] सम्पादकीय, दैनिक जागरण(राष्ट्रीय संस्करण)

व्यक्ति अपना पूरा जीवन जमींन-जायदाद इकठ्ठा करने में लगा देता है। वह सोचता है कि उसके द्वारा संरक्षित की गई धन-संपत्ति से वृद्धावस्था में उसके दिन सहजता से व्यतीत हो जायेंगे। यह वृद्धजन जिस उद्देश्य से धन-सम्पति और जमींन को इकठ्ठा करते है। उसे वह बुढ़ापे में टूटता और बिखरता देखते है। जिससे वह अपने को आहत और पीड़ित महसूस करते है। जिन बच्चों की खुशी के खातिर उन्होंने अपना पेट काट-काट कर, दिन-रात मेहनत करके कमाया और उसे इकठ्ठा किया वही बच्चे आज धन-सम्पदा के लिए आपकी जान के दुश्मन हो गए है। आज की आधुनिक नव पीढ़ी सोचती है कि उनके माता-पिता ने जो जमा पूंजी एवं जमींन-जायदाद संरक्षित की है। वह सब उन्ही के लिए तो है अब उसे देने में माता-पिता को क्या आपत्ति है। इसी धन सम्पदा के कारण माता-पिता और बच्चों के संबंधो परस्पर में दरार आने लगती है। कहीं-कहीं समाज में ऐसी स्थिति देखने को मिलती है कि बच्चें धन-दौलत के लालच में आकर अपने माता-पिता की हत्या करने से भी नहीं चूकते है। काशीनाथ सिंह ने समाज इस स्थिति की देखते हुए अनुभव किया और अपने उपन्यास ‘रेहन पर रग्घू’ में वर्णित किया है। रघुनाथ के मित्र बापट की मृत्यु उसके अपने बेटे ने फ्लैट की रजिस्ट्री न करने की वजह से कर दी हाँलाकि यह सब उसी के लिए था लेकिन उसके चाल-ढाल की वजह से उसे सम्पति से बेदखल कर दिया था। “पापा जी, क्या आप को खबर है कि बापट का मर्डर हो गया पिछले दिनों? नहर में उनकी लाश मिली थी? और आप आश्चर्य करेंगे कि एफ.आई.आर इसी बेटे के नाम दर्ज हुई है। पेपर में आया था यह समाचार! इस बेटे को उन्होंने अनाथालय से एडाप्ट किया था जब वह बच्चा था! पढ़ाया लिखाया था, कोई नौकरी भी दिला दी इसको। चूँकि इसका चाल चलन अच्छा नहीं था इसलिए निकाल दिया था उन्होंने घर से! यह चाहता था कि अपने रहते फ्लैट उसके नाम लिख दे! शायद लिखवा भी लिया था इसने; इस शर्त पर कि वह इसमें तभी आएगा जब वह नहीं रहेंगे!... कहना मुश्किल है कि कैसे क्या हुआ?”[1] इससे स्पष्ट होता

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१५३

है कि आज की संतानें अपने वयोवृद्ध माता-पिता की जमींन-जायदाद को हथियाने के लिए किस-किस प्रकार के हथकंडे अपनाकर उन्हे प्रताड़ित करती है।

आज की पीढ़ी पर भौतिकतावाद इतना हावी है कि वह अपने पुरुखों की जमींन-जायदाद को सहेज कर रखना नहीं चाहता है बल्कि उसे उपयोगितावादी और पूंजी के नज़रिये से देखते हुए अन्य जगह निवेशित करना चाहते है। जिससे उस सम्पति को जल्द से जल्द अधिक रूपयों-पैसों में परिवर्तित किया जा सके। उपन्यास में रघुनाथ अपनी पुस्तैनी जमींन को अनमोल समझते है। उनके लिए अपनी जमींन किसी स्वर्ग से कम नहीं है जैसा कि वाल्मीक रामायण में लिखा है: “जननी जन्मभुमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी”[1] लेकिन उनके बच्चों के लिए जमींन केवल कागज के नोटों के अलावा कुछ नहीं है। जिससे वह अपनी अंधमूढ़ता और अज्ञानता का परिचय देते है। उपन्यास में काशीनाथ सिंह ने आज की युवा पीढ़ी की सोच को परखते हुए लिखा है: “रघुनाथ के पास गाँव की जमींन के सिवा कुछ नहीं था और उस जमींन को वे अनमोल समझते थे। बेटे उसे ‘कैश’ में भुना कर देखते थे और कह रहे थे कि इससे ज्यादा तो मेरी एक महीने की इनकम है।”[2] यह स्थिति केवल एक रघुनाथ की नहीं है अपितु समाज के न जाने कितने लोगों की है। जो दिन-रात इसी शंका और विडंबना में रहते है कि उनके मरने के बाद उनकी पुस्तैनी जमींन और उनके द्वारा निर्मित घर का क्या होगा? जिसे उन्होंने अपने सपनों के महल की तरह बनाया है।

जमींन-जायदाद के संबंध में अपवाद स्वरुप कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि माता-पिता के द्वारा संचित की गई धन सम्पति पर उनका कोई बच्चा अपना विशेषाधिकार नहीं रखना चाहता है। इसके संबंध में कई कारण हो सकते है, हो सकता है उनके बच्चें विदेश में हो या माता-पिता से मोह न होने कारण अंह में उस धन-सम्पदा को स्वीकार न करना चाहते हो। ऐसी परिस्थिति में माता-पिता दिन-रात इस सोच में डूबे रहते है कि उनके द्वारा संचित धन-सम्पदा का क्या होगा? उनके बच्चे उसे स्वीकार करेंगे या नहीं? कहीं ऐसा न हो

---

[1] बाल्मीक रामायण

[2] रेहन पर रग्घू , पृ.-१४९

उस सम्पति पर कोई दूसरा अपना विशेषाधिकार स्थापित न कर ले। उपन्यास में रघुनाथ को अपनी जमींन-जायदाद को लेकर चिंता है कि “यह नई मुसीबत न उन्हें जीने दे रही थी, न मरने दे रही थी। गाँव पर पुश्तैनी जमींन जायदाद। बाप दादों की धरोहर। न देखो दूसरे कब्ज़ा कर ले, कहना मुश्किल। पुरखों ने तो एक-एक कौड़ी बचा कर, पेट काट कर, जोड़-जोड़ कर जैसे-तैसे जमीनें बढ़ाई ही, चार की पाँच ही कीं-तीन नहीं होने दीं और यहाँ यह हाल! जरा से गाफिल हुए कि मेड़ गायब! महीने दो महीने में कम से कम एक बार गाँव का चक्कर लगते रहो। देख लें लोग कि नहीं, हैं ; ध्यान है। हाल चाल लेते रहो, कुशल मंगल पूछते रहो, खुशी गमी में जाते रहो, सबसे बनाए रखो। अधिया या बँटाई पर खेती करो तब भी। दिया बाती और घर दुआर की देख रेख के लिये कोई नौकर चाकर रखो तब भी!”[1]

किसी वृद्ध को परिवार और समाज में मान-प्रतिष्ठा तभी मिलती है जब उसके पास उनकी जेब में चार पैसे होते है किन्तु उनके पास धनाभाव तो इस उम्र में आते-आते हो जाता है। उनके पास धन-संपति के रूप में जमीन शेष रहती हैं क्योंकि अधिकांशतः हमारे वयोवृद्ध माँ-पिता जमींन से जुड़े हुए होते हैं। वही उनकी जमा पूँजी होती है जिसे वह वृद्धावस्था में अपने बच्चों को देना चाहते है। जिससे वह भी अपने जमीन और घर परिवार से हमेशा के लिए जुड़े रहें। भौतिकतावादी युग में परिस्थितियाँ कुछ ऐसी है जिसमें आज का युवा वर्ग फँसकर रह गया है। वह उसमें से निकलकर अपने जल-जंगल और जमींन से नहीं जुड़ना चाहता है। इस बात को अवश्य समझना चाहिए कि हमारे माता-पिता को हमसे ज्यादा अनुभव है। वह जानते है कि जीवन भर कितना भी रुपया-पैसा कमा लो लेकिन अंत समय में केवल जमींन ही शेष रह जाएगी और वही जमींन भविष्य में आपके काम आएगी। यह काशीनाथ सिंह की दूरदृष्टि का परिणाम है, जिसे उन्होंने भली-भाँति समझा और अपने उपन्यास में रघुनाथ के द्वारा कहलवाया है: “ मैंने तीस पेंतीस साल नौकरी की, लाखों कमाए और आज हाथ में एक पैसा नहीं! इस हाथ आए, उस हाथ गए। पूछो कि कहा गए तो बता नहीं सकता। और यह जमींन?

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१०५

आज भी जहाँ के तहाँ है! रत्ती भर भी टस से मस नहीं हुई अपनी जगह से! इसने तुम्हारे आजा को खिलाया, यही नहीं, तुम्हारे बेटों और नाती पोतों को भी खिलाएगी! तुम करोड़ों कमाओगे लेकिन रूपैया और डालर नहीं खाओगे।"[1] एक ओर माता-पिता है जो भविष्य के लिए जमींन के आर्थिक फायदे बताकर उसे सुरक्षित करने की बात कर रहे हैं। वहीं दूसरी ओर आज की नव पीढ़ी इसे पिछड़ेपन की संज्ञा देते हुए इसकी अवहेलना करती है। उनके लिए जमींन का कोई मोल नहीं हैं। उपन्यास में रघुनाथ जमींन को लेकर चिंन्तित है वहीं राजू को यह जमींन बेकार की वस्तु लगती हैं : "क्यों मरे जा रहे हैं जमींन को लेकर छोड़िए उसे"[2]

वृद्धावस्था में माता-पिता अपने बेटे-बहू के संबंधों और उनके प्रति किए गए व्यवहार से तंग आकर कभी-कभी उनका घर छोड़ देते है। घर छोड़ने के पश्चात वयोवृद्ध माता-पिता के सामने पेट भरने और रहने की चिंता सबसे अधिक होती है। उन्हें समझ में नहीं आता है वृद्धावस्था में कोई काम मिलेगा या नहीं, यदि मिलेगा तो शारीरिक से सक्षम होकर कर पाएंगे? इस प्रकार की तमाम समस्याएँ वृद्धजनों के सामने उपस्थित हो जाती है। फिल्म 'बाग़बान' में राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) और पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) अपने बेटे अजय मल्होत्रा (अमन वर्मा) और संजय मल्होत्रा (समीर सोनी) का घर छोड़कर जब अपने घर वापिस लौटकर आते है। उस समय वह इन्ही समस्याओं से जूझ रहे होते है:

"राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- आखिर हम घर आ ही गए ...

पूजा मल्होत्रा(हेमा मालिनी)- आ तो गए है लेकिन यह घर चलेगा कैसे?"[3] ऐसी स्थिति समाज में आए दिन देखने को मिलती है कि लोग मृत्युपर्यन्त तक कठिन परिश्रम करते है और कठिन परिश्रम करते-करते मृत्यु को प्राप्त हो जाते है।

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-८५

[2] वहीं , पृ.-८४

[3] संवाद (फिल्म बागवान से)

आज का युवा पीढ़ी इतना स्वार्थी है कि वह अपने माता-पिता की सेवाश्रुषा तब तक करता है जब तक उन वृद्धजनों के पास अपने बहू-बेटों, नाती-पोतों को देने के लिए कुछ होता है। जैसे वह उन्हें प्राप्त हो जाता है वे उन्हें धकियाना शुरू कर देते है। यदि सहयोग से वृद्धावस्था में वृद्ध माता-पिता के पास कहीं से चार पैसे आ जाते है तो उनके अपने बच्चे उनकी पीठ पीछे न जाने कैसे-कैसे षड़यंत्र रचने लगते है। वह उनके रुपयों पैसो को पाने के लिए झूठा नाटक कर के दिखाने का प्रयास करते है कि उनसे गलती हो गई, आप हमारे देवतुल्य है, हमें हमारी गलती के लिए माफ़ कर दीजिए लेकिन वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है। यह सब उनके मगरमच्छ के आँसू है जिसके पीछे एक नियत प्रयोजन होता है कि उनकी धन-संपति को कैसे अपनी मुठ्ठी में किया जाए। इसकी स्पष्ट झलक 'रवि चोपड़ा' के निर्देशन में बनी फिल्म 'बाग़बान' में दिखाई देती है। जब राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) के द्वारा लिखित पुस्तक बाजार में प्रसिद्ध हो जाती है और वह बेस्ट सेलर अवार्ड के लिए नामित की जाती है। जब इसकी भनक उनके बहू-बेटों को पता चलती है तो वह सब मिलकर उनको मनाने की योजना बनाते है किस प्रकार उन्हें मना कर उनके पैसों को अपने कब्ज़े में लेना है।

"करन मल्होत्रा(नासिर खान)- यह देखों! यह न्यूज़ पढ़ी आपने, डैड की बुक इंटरनेशनल मार्किट में बेस्ट सेलर एक्क्लेम कर ली गई है... डैड लाखों में खेल रहे है, लाखों में।

रोहित मल्होत्रा (साहिल चड्डा)- सो व्हाट करन? हमें तो फूटी कौड़ी नहीं मिलने वाली और वो सब हमारे बड़े भाइयों की वजह से।

अजय मल्होत्रा (अमन वर्मा)- क्यों ? भाई हम लोगों ने उनके साथ क्या बतमीजी की है।

करन मल्होत्रा (नासिर खान)- कुछ तो किया होगा आप लोगों ने तभी तो वह हमारे घर आने की बजाय वहाँ चले गए।

किरण मल्होत्रा (सुमन रंगनाथ)- अरे! बाबा यह समय आपस में लड़ने का समय नहीं।

रीना मल्होत्रा (दिव्या दत्ता)- शी इज राइट यह वक्त रूठों को मनाने का है।

प्रिया मल्होत्रा (आरज़ू गोवित्रिकर)- यस हमें पापा के पास जाना चाहिए और उन्हें मनाना चाहिए।

अजय मल्होत्रा (अमन वर्मा)- कोई फायदा नहीं वो लोग मानने वाले।

संजय मल्होत्रा (समीर सोनी)- अरे! क्यों नहीं मानेंगे आखिर हम उनके बच्चें है। कोई माता-पिता अपने बच्चों से ज्यादा देर तक नराज नहीं रह सकते...ज्यादा हुआ तो माफ़ी मांग लेंगे...और क्या।

करन मल्होत्रा (नासिर खान)- हम उनके पाँव पड़ जायेंगे...उनके सामने नाक रगड़ेंगे, फिर देखना कैसे नहीं पिघलेंगे।"[1]

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वर्तमान समाज में आज की पीढ़ी अपने माँ-पिता के प्रति किस प्रकार से दोहरा व्यवहार करती है। एक तरफ तो उन्हें देवतुल्य मानती है वहीं दूसरी ओर उन्हें बेसहारा कर देती है। जिससे उनके मन में अंत समय पर तरह-तरह आशंकाएँ और चिंताए लगी रहती है और उन्हीं चिंताओं से व्याकुल होकर यह वृद्धजन अपने प्राणों का त्याग कर देते है।

घ. शारीरिक एवं मानसिक समस्याएँ

वृद्धावस्था में पहुँचकर व्यक्ति का शरीर न जाने कितनी व्याधियों का घर बन जाता है। इस अवस्था में वृद्धजनों को किसी न किसी प्रकार की बीमारी लगी रहती है जिसके कारण उनका शरीर कमजोर हो जाता है। जिससे उनको हाथ-पैर कांपने की, अनिद्रा, श्रवण शक्ति का कम होना, दृष्टि कमजोर होना, कूबड़ निकल आना, हड्डियों का कठोर होना आदि समस्याएँ हो जाती है। धीरे-धीरे उनका शरीर जर्जर होकर धूमिल होने लगता है जो बुढ़ापे के सर्वाधिक कष्टकारी है।

यह तो शाश्वत सत्य है कि जो व्यक्ति इस संसार में पैदा हुआ है। उसका इस संसार से विदा होना तय है। इस संसार में जो भी व्यक्ति जीवित है तब तक वह निरोग रहे, स्वस्थ रहे उसे अपने कार्यों के लिए किसी दूसरे व्यक्ति का सहारा न लेना पड़े। जीवन संध्या में प्रत्येक वृद्ध की यही इच्छा होती है उसे किसी पर निर्भर न

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

होना पड़े। ऐसा सौभाग्य किसी पुण्य आत्मा को ही प्राप्त होता है जो अपने हाथ-पैर चलाते, बोलते-सुनते, उठते-बैठते, खाते-पीते इस संसार से विदा ले लेते है। इस विषय पर 'सिमोन द बउआ' ने अपनी पुस्तक 'ओल्ड एज' में अरस्तु के कथन को उद्धृत करते हुए वृद्धावस्था के विषय में लिखा है: "जीवन का वास गति में है जर्जर शरीर के कारण वृद्ध गतिहीन हो जाता है तो एक शून्यता उसे घेर लेती है और वह उदासी की मानसिकता में चला जाता है।"[1] अतः वृद्धावस्था में शरीर का अशक्त हो जाना, क्षीण हो जाना वृद्धजनों की प्रमुख समस्या होती है।

यदि कोई व्यक्ति दिव्यांग ही इस दुनिया में आया है या दुर्भाग्यवश किसी दुर्घटना से दिव्यांग हो गया है। इस परिस्थिति में उस व्यक्ति का पूरा जीवन अभिशाप बन जाता है। वृद्धावस्था, जिसमें पहले से अनेक प्रकार की समस्याएँ निहित होती है। जो बुढ़ापे को अधिक जटिल और कष्ट कर बना देती है। विकलांगता, मूकबधिता, नेत्रहीनता आदि समस्याएँ इस अवस्था में न केवल वृद्ध अपितु परिजनों के लिए विशेष समस्या बन जाती है जिससे वृद्धावस्था में वृद्धजन अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा करते रहते है। परिवार में यदि आर्थिक समृद्धता है तब तो इस समस्या की भयावहता को कम किया जा सकता है अन्यथा दिव्यांगता और वह भी वृद्धावस्था में लोगों के लिए सिर्फ हताशा, निराशा, कुंठा और उपेक्षा का कारण बनती है जिससे उनका जीवन बोझिल और ऊबाऊ बन जाता है और वह निरंतर मृत्यु की कामना करते हैं।

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में काशीनाथ सिंह ने इस स्थिति को बेहतर तरीके से रूपायित किया है। किस प्रकार रघुनाथ के बचपन के मित्र ज्ञानदत्त चौबे आत्महत्या करने का प्रयास करता है जिसमें वह अपने पैरों को गवाँ देता है। उसके बाद उसके घर वाले उसकी उपेक्षा करने लगते है। विकलांग होने के पश्चात उसके घर वाले जिस प्रकार से उसके साथ व्यवहार करते है उससे आहत होकर वह पुनः आत्महत्या करने का प्रयास करता है और पुनः बच जाता है और अंत में चौराहे पर भीख मांगता है: "यह मरने से ज्यादा बुरा हुआ! बैसाखियों का

---

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-७६

सहारा और घर वालों की गलियाँ और दुत्कार! एक बार फिर आत्महत्या का जूनून सवार हुआ उस पर! अबकी उसने सिवान का कुआँ चुना! उसने बैसाखी फेंक छलाँग लगाई और पानी में छपाक् कि बरोह पकड़ में आ गई! तीन दिन बिना खाए पिए भूखा चिल्लाता रहा कुँए में-और निकला तो दूसरे टूटे पैर के साथ!

आज वही ज्ञानदत्त- बिना पैरों का ज्ञानदत्त-चौराहे पर पड़ा भीख माँगता है। मरने की ख्वाहिश ने उसे कहीं का नहीं छोड़ा!..”[1]

जीवन की इस अंतिम बेला में पहुँचते-पहुँचते आदमी के हाथ-पैर थकने लगते है। उसके शरीर का प्रत्येक अंग धीरे-धीरे शिथिल होकर जवाब देने लगता है। उसे शारीरिक असमर्थता महसूस होते हुए मन में एक अनजाना-सा भय होने लगता है। इस अवस्था के आरंभ होते ही वृद्धजनों के लिए यह संसार अपना रंग बदलना शुरू कर देता है। ‘रवि चोपड़ा’ द्वारा निर्देशित फिल्म ‘बाग़बान’ में जब राज मल्होत्रा अपने निवास स्थान को छोड़कर अपने बेटे संजय मल्होत्रा (समीर सोनी) के घर पहुँच कर टेक्सी से उतरते है तो वह अपने बेटों की तरफ देखते हैं कि उनके बैग को उठाकर अंदर लेकर जाएगा लेकिन वह अपना बैग उठा कर चल देता है और उनके बैग को घर के बाहर ही छोड़ देता है। वृद्धावस्था में राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) वह अपने को बैग को उठाकर चलने का प्रयास करते है। वृद्धावस्था में होने वाली शारीरिक परेशानियों के कारण राज मल्होत्रा उस बैग को उठाने में असमर्थता महसूस करते हैं। इस दृश्य को रवि चोपड़ा ने बहुत ही सटीक और मार्मिकता के साथ दर्शाया है जो समाज के लाखो-करोड़ों वृद्धजनों की स्थिति को उजागर करता है।

वर्तमान समय में उचित खान-पान न होने से मनुष्य का स्वास्थ्य प्रभावित हुआ है। अनेक प्रकार की बीमारियाँ वृद्धों के शरीर में प्रवेश कर अपना नकारात्मक प्रभाव शरीर पर छोड़ने लगती है। जिससे कालान्तर में शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर अपना बुरा असर दिखाती है जिससे वृद्धावस्था में व्यक्ति के शरीर में अनेक प्रकार के परिवर्तन आने लगते हैं। धीरे-धीरे शरीर क्षीण होने लगता है जो झुर्रियों के रूप में व्यक्ति के

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१५

शरीर में सर्वप्रथम दिखाई देता है। उसके बाद सर से बालों का निकल जाना, दाँतों का गिर जाना, कमर का झुक जाना आदि समस्याएँ आने लगती है। इन चीजों का क्षरण वृद्धजनों को वृद्धावस्था का एहसास करवाने लगती है। उपन्यास में जब सरला मिर्जापुर से कुछ दिनों के बाद लौटकर आती है और अपने पिता रघुनाथ को देखती है तो उनके सिर से बाल गायब हो गए, दाँत निकल गए है और अब वह भी अन्य वयोवृद्धों की तरह झुक कर चलने के लिए बाध्य हो गए है: "सरला ने पिता को देखा-इन्हीं चन्द दिनों में कितने बदल गए पिता? गंजे हो गए हैं। सिर से बाल उड़ गए हैं- कनपटियों को छोड़ कर। सामने के दो दाँत जाने कब उखड़ गए! ठोकर बैठ गया है! थोड़ा और झुक गए हैं बूढ़े की तरह चलने लगे हैं।"[1]

अपने समय में जो कार्य वृद्धजन उझलते-कूदते कर लेते थे, कोसों-मील पैदल चल लिया करते थे। जिन्होंने कभी धूप, गर्मी, बारिश और सर्दी नहीं समझी, उन्हें आज संभल-संभल के कदम बढ़ाने पर वृद्धावस्था मजबूर कर रही है। वृद्धावस्था में व्यक्ति शरीर से असमर्थ हो जाता है। उनके कार्य करने की क्षमता घट जाती है। वह झुंझलाने लगते है, उनके मन में खीझता आने लगती है लेकिन अपने द्वारा किए गए त्याग, सेवा, बलिदान, परोपकार आदि सभी महत्वपूर्ण कार्य उनकी स्मृति में ज्यों के त्यों के बने रहते है। जो उसको और अधिक दुख देते है। कुछ ही ऐसी स्थिति उपन्यास में रघुनाथ के साथ है। वृद्धावस्था में अनेकानेक बीमारियों से उनका शरीर कमजोर हो जाता है। तब वह अपने में सोचते है कि बचपन में मुझमें कितनी क्षमता थी। मैं अकेले कईयों मील पैदल चल कर अपने ननिहाल पहुँच जाता था। मुझे किसी प्रकार की दिक्कत परेशानी का सामना नहीं करना पड़ता था किन्तु अब घर के बाहर और अंदर चलने के लिए तीसरे पैर के रूप में छड़ी की आवश्कता महसूस होती है। जिसका उपयोग करना वृद्धावस्था में रघुनाथ को बहुत अधिक आत्मिक पीड़ा पहुँचता है: "रघुनाथ अपने जीवन की लम्बाई नापते थे अपने पैरों से- उसकी चाल और ताकत से; फेफड़ों से आती जाती साँसों से। एक समय था जब वे पंद्रह सोलह मील चले थे ननिहाल। धूप में! बिना थके, बिना कहीं

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-५०

बैठे-और तरोताजा रहते थे! फिर यह लम्बाई घटनी शुरू हुई- आठ मील, फिर छः मील, फिर चाल मील, फिर एक मील और ढ़ाबे में आकर सिमट गई थी! अगर कहीं निकलना भी होता था तो अब वह दो पैर काफी नहीं होते थे, एक तीसरा पैर भी लगाना पड़ता था और वह तीसरा पैर था- छड़ी! अब वह तिपहिया मनुष्य थे!"[1]

इसी प्रकार की तमाम बीमारी है जिससे वृद्धजन ग्रसित है। किसी वृद्ध को पैरों से, किसी को आँखों की रौशनी से, किसी अन्य को अन्य कोई समस्या से तकलीफ है। फिल्म 'बाग़बान' में राज मल्होत्रा को चलने-फिरने और उठने-बैठने में कोई समस्या नहीं है। उनकी आँखों की रोशनी थोड़ी कमज़ोर है या यो कहें कि उन्हें पढ़ने-लिखने के लिए चश्मा की आवश्यकता होती है। जैसाकि फिल्म में दिखाया गया है जब राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) की पत्नी (हेमा मालिनी) की चिट्ठी आती है, उसी समय उनका चश्मा गिरकर टूट जाता है। उन्हें अपनी पत्नी का खत पढ़ने की इतनी उत्सुकता होती है कि वह बिना चश्मा के पढ़ने की कोशिश करते है। जिसमें वह अपने आप को विफल अनुभव करते हैं और अंत में वह चिट्ठी सुनने के लिए शांति पटेल (लिलटे दुबे) से अनुरोध करते है। चिट्ठी व्यक्तिगत भावनाओं से ओतप्रोत होने के कारण वह पढ़ने से मना कर देती है। "नहीं! मोटा भाई...मैं आगे में नहीं पढ़ सकती जब आपका चश्मा ठीक हो जाएगा तब आप खुद ही पढ़ लीजिएगा।"[2] इस परिस्थिति में एक वृद्ध की क्या मनोस्थिति रही होगी इसकी कल्पना तो एक वृद्ध व्यक्ति ही कर सकता है। एक तरफ उनके अपने बच्चें उनसे मुँह मोड़ लेते है वहीं दूसरी ओर उम्र की इस अवस्था में आकर उनकी आखों ने भी उन्हे धोखा दे दिया। जिसमें दूर रह रही पत्नी की चिट्ठी को पढ़ पाना मुश्किल हो रहा है।

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास होता है। शरीर को स्वस्थ को बनाना अतिआवश्यक है। यदि व्यक्ति हमेशा अस्वस्थ हो तो उसकी जीवन-शैली, रहन-सहन, व्यवहार-संबंध में, आचार-विचार में तथा उसकी जरूरतों और आवश्यताओं पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त उनके परिजन भी उनकी बातों

---

[1] रेहन पर रग्घू, पृ.-१४१

[2] संवाद (फिल्म बागवान से)

को अनसुना करके उपेक्षा करने लगते है। वृद्धजनों को वृद्धावस्था में अधिक से अधिक यही कोशिश करनी चाहिए कि वह स्वस्थ रहे। जो लोग इस बात को समय रहते समझने का प्रयास नहीं करते है उनकी स्थिति बुढ़ापे में और भी बदतर हो जाती है जिससे वह एक जगह स्थिर होकर रह जाते हैं। उपन्यास में रघुनाथ की शारीरिक स्थिति, उनकी कॉलोनी में रहने वाले अन्य लोगों की अपेक्षा कुछ ठीक है। इस बात का संतोष उन्हें कॉलोनी में रह रहे अन्य वृद्धजनों की स्थिति से था। उनका स्वास्थय बार-बार उन्हें यह एहसास दिलाता था कि वह अकेले इस कॉलोनी में वृद्ध नहीं है उनके जैसे भी कई लोग उनके आस-पास रह रहे हैं जिनकी स्थिति उनसे ज्यादा खराब है। उपन्यासकार लिखते हैं: "सन्तोष था तो यही कि उनकी तरह तिपाए चौपाए मनुष्यों से कालोनी भरी पढ़ी थी। जीने का सबब यही सन्तोष था कि वे अकेले नहीं हैं। उनके जैसे समाज में बहुत है! कई तो उनसे भी बदतर हैं। जिन्होंने जमीनी हिस्सा किराए पर दिया है और खुद रहने के लिए पहेली मंज़िल चुनी है, वे वहीं अंटके पड़े हैं। किसी तरह बालकनी में आते हैं और वहीं बैठे बैठे पूरे दिन लोगों को आते जाते देख कर अपने जीवित होने का अहसास करते हैं।"[1]

जैसे-जैसे हमारी उम्र बढ़ने लगती है वैसे-वैसे हमारे स्वास्थ्य और खान-पान में बदलाव आने लगता है। प्रायः समाज में देखा जाता है कि वृद्धावस्था में वृद्धजनों को नींद की समस्या रहती है। वृद्धावस्था में लगभग एक तिहाई से एक चौथाई वृद्धजनों को नींद की समस्या रहती हैं। वृद्धजनों को नींद न आने के कई कारण हो सकते है। वृद्धजन बच्चों की कटु बातों को लेकर विचारमग्न रहते हो या स्वास्थ्य को ध्यान रखते हुए कम भोजन करते हो जिससे प्राय: उन्हें नींद की समस्या लगी रहती हो या भविष्योन्मुख चिंतन के कारण नींद का अल्प होना, इस प्रकार की तमाम अन्य समस्याओं से उलझे होने के कारण उन्हें नींद नहीं आती होगी। 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में चाहे शीला हो या रघुनाथ या कोई अन्य पात्र वृद्धावस्था में हर किसी को नींद कम आने की समस्या है इनके पीछे कारण चाहे कोई भी हो। जिस दिन सोनल अपने ससुर रघुनाथ को संजय के घर

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१४१

वापस न लौटने की बात बताती है इस बात से रघुनाथ के मन में आशंका हुई कि कहीं सोनल कुछ कर न बैठे, इसी चिंता में रघुनाथ को पूरी रात नहीं आती है। "वे भोजन के बाद घर के पिछवाड़े अपने ढाबे में नहीं गए थे उस शाम, 'ड्राइंग रूम' में बैठे रह गए! सारी रात ऐसे ही काट दी-बैठे बैठे! नींद आई ही नहीं! तरह-तरह की आशंकाए आ जा रही थीं जिनमें सबसे प्रबल यह कि लड़की आवेश में कुछ कर-करा न ले!"[1]

फिल्म 'बाग़बान' में राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) और पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) को वृद्धावस्था में एक-दूसरे से अलग हो जाने के अतिरिक्त तरह-तरह की घेरलू समस्याएँ और बेटे-बहुओं का उनके प्रति नीरस व्यवहार के कारण अपने को सहज नहीं रख पाते है जिसके परिणामस्वरुप उन्हें कम नींद आती है।

"संजय मल्होत्रा (समीर सोनी)- डैड! आधी रात को आप क्या कर रहे है?

राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- अरे! बेटा मुझे नींद नहीं आ रही थी तो मैंने सोचा...

संजय मल्होत्रा (समीर सोनी)- डैड इस उम्र में नींद कम ही आती है इसका मतलब यह नहीं कि आप दूसरों को भी न सोने दे ..."[2]

बुढ़ापा एक प्राकृतिक और स्वाभाविक शारीरिक समस्या है। औद्योगिक क्षेत्र में विकास होने के कारण जीवन प्रत्याशा दर में वृद्धि और मृत्यु दर में गिरावट देखने को मिलती है। शहरीकरण और भौतिकतावाद ने पारिवारिक संरचना को परिवर्तित किया है, जिनमें इन वृद्धजनों की देखभाल करना मुश्किल हो जाता है। इसके अतिरिक्त सामान्य रूप से देखा जाए तो जो वृद्धजन शारीरिक रूप से दुर्बल है उन्हे तो वैसे ही अनेक प्रकार की समस्याएँ अपने बस में कर लेती है। वृद्धावस्था में आकर बुजुर्गो को बुखार-खाँसी, सर दर्द, कमर दर्द, अस्थमा आदि समस्यएँ तो उन्हें आए दिन लगी रहती है। जिससे वह दिन-प्रतिदिन चिड़चिड़े, क्रोधित और कुंठाग्रस्त हो जाते है। उपन्यास में वृद्ध रघुनाथ जो पहले से शारीरिक रूप से कमजोर थे। उनकी जमीन पर कब्जा करने

---

[1] रेहन पर रग्घू, पृ.-१३६

[2] संवाद (फिल्म बागवान से)

के लिए उनके भतीजें उनके साथ मारपीट करने लगते है जिससे उनके शरीर पर गहरी चोटें आई और उसके बाद से उनके शरीर में जगह-जगह दर्द रहने लगा। उनके अतिरिक्त शीला भी अस्थमा की बीमारी से ग्रसित है। उस दिन की घटना के बाद से काफी निराश और चिंतित दिखाई देती है। काशीनाथ सिंह इस दृश्य का वर्णन करते हुए लिखते हैः "अब पहले जैसा दमखम भी नहीं रह गया था। घुटनों में भी दर्द रहता था और गरदन में भी। शीला अलग मरीज थी दमा और गैस की! जब भी रघुनाथ के सामने आती, डकार लेती हुई ही आती। और पिछले दिनों की घटना और पति की परेशानी ने तो उसे और भी नर्वस और निराश कर दिया था।"[1]

अपनों से मिले दर्द दिल और दिमाग दोनों को आघात पहुँचाते है जिससे चहरे की मुस्कान हमेशा लिए अपने आप विलुप्त हो जाती है। बस रह जाता है तो सिर्फ अकेलापन, तनाव और संत्रास जो धीरे-धीरे मानसिक स्थिति को बिगाड़ता चला जाता है। जैसे-जैसे मनुष्य अपनी जवानी के ढ़लान पर आकर वृद्धावस्था में प्रवेश करता है वैसे-वैसे उनका संपर्क परिवार और समाज से खत्म होता चला जाता है। वृद्धावस्था में शारीरिक बदलाव के साथ वृद्धजनों में मानसिक परिवर्तन होने लगता है जिससे वृद्धजनों के मन के मानसिक तनाव की स्थिति बनने लगती है। यह तो सर्वविदित है कि यदि पति-पत्नी में से यदि किसी की मृत्यु हो जाए तो वृद्धजनों के मन में हीन भावना की वृद्दि हो जाती है जिससे मन में विकृति, घुटन आदि के अतिरिक्त पूर्व की स्मृति उसके मन को कचोटती रहती है। अतः समाज में उनकी कोई भी उपयोगिता न होने के कारण उनमें अपने प्रति निरुपयोगिता की भावना जाग्रत होने लगती है जो उनके लिए एक मानसिक समस्या का रूप धारण कर लेती है।

जैसे-जैसे मनुष्य वृद्धावस्था की दहलीज की ओर अग्रसर होता है वैसे-वैसे उसका शरीर साथ छोड़ने लगता है। उन्हें अनेक प्रकार की शारीरिक व मानसिक बीमारियाँ अपनी गिरफ्त में ले लेती है। प्रारंभ में सबसे पहले उनकी याददाश्त कमजोर पड़ने लगती है। उसके बाद से उनके काम करने की शक्ति का क्षरण होने लगता

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-८३

है। ऐसा कदापि नहीं होता है कि वृद्धजन अपनी वृद्धावस्था में सभी बातों को भूल जाते हैं, उन्हें अपने बचपन की स्मृतियाँ, जवानी में यार-दोस्तों के साथ घटित हुई घटनएँ बच्चों के प्रति उनके त्याग और किसी पर किए गए उपकार को वह अपनी स्मृति में ज्यों का त्यों संजोए रहते हैं। लेकिन वह अपने आस-पास की हाल में घटित हुई घटनाओं और बातचीत को एक सिरे से भूल जाते है इसका मुख्य कारण यह भी हो सकता है कि वह अपने द्वारा संजोई गई दुनिया में खोए रहते है। आज की युवा पीढ़ी अपनी आंतरिक समस्याओं और आर्थिक उन्नति की व्यस्तता के कारण अपने वृद्ध माता-पिता, दादा-दादी आदि के पास दो पल सुकून से नहीं बैठ पाती है। जिसके परिणामस्वरूप परिवार के सदस्यों की उनके प्रति और उनकी परिवार के सदस्यों प्रति उपेक्षाएँ बढ़ने लगती है। बच्चों की व्यस्तता और अपने खालीपन से बचने के लिए वृद्धजन जीवन में किए गए भले-बुरे कर्मों को याद करते हुए अधिकांशत सद्कर्मो को याद करते हुए अपने जीवन की शेष गाड़ी को खींचने में प्रयासरत रहते है।

प्रकृति, समय और परिस्थिति कभी-कभी ऐसी हो जाती है कि वह भी लोगों को अतीत की स्मृतियों में ले जाने में सहायक होती है। वृद्धावस्था में यही स्थिति और परिस्थिति वृद्धजनों के मन में जबरदस्त उच्छलन करके उन्हें अतीत की ओर खींच ले जाती है। प्रायः ऐसा सुना और देखा जाता है कि हमारे वृद्धजन वृद्धावस्था में आकर बच्चों के समान व्यवहार करने लगते है शायद इसीलिए वृद्धावस्था को बचपन कहा जाता है। 'सिमोन द बुउआ' ने अपनी पुस्तक 'ओल्ड एज' में इस संदर्भ पर लिखा है: "यह बचपन ही है जो वृद्ध का पीछा नहीं छोड़ता। बचपन की छाप इतनी गहरी होती है कि वह जीवन के अंत तक साथ रहती है। इस बात को फ्रायड और मोंटेन ने अपने तर्कों से प्रमाणित भी किया है। युवावस्था में व्यक्ति को इतना समय नहीं होता कि वह अपने बचपन की इस छाप के बारे में सोचे पर जैसा कि नोडियर ने कहा- प्रकृति की यह सबसे बड़ी कृपा है कि वृद्धावस्था में व्यक्ति अपने बचपन की स्मृति में आसानी से लौट सकता है।"[1]

[1] वृद्धावस्था विमर्श, पृ.-६६

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास के प्रारंभ में अचानक से मौसम परिवर्तन के साथ भयंकर बारिश-आंधी और ओले को गिरते देख रघुनाथ के मन में अपने बचपन की स्मृति सहसा रह रहकर उभरने लगती है कि ऐसी बारिश उन्होंने तब देखी जब वह गाँव में रहते थे और गाँव से दो मील दूर अपने प्राथमिक विद्यालय जाया करते थे। उपन्साकार लिखते है: "ऐसा मौसम और ऐसी बारिश और ऐसी हवा उन्होंने कब देखी थी? दिमाग पर जोर देने से याद आया-साठ बासठ साल पहले! वे स्कूल जाने लगे थे- गाँव से दो मील दूर! मौसम खराब देख कर मास्टर ने समय से पहले ही छूट्टी दे दी थी। वे सभी बच्चों के साथ बगीचे में पहुँचे ही थे कि अंधड़ और बारिश और अँधेरा! सबने आम के पेड़ों के तने की आड़ लेनी चाही लेकिन तूफान ने उन्हें तिनके की तरह उड़ाया और बगीचे से बाहर धान के खम्धों में ले जाकर पटका! किसी के बस्ते और किताब कापी का पता नहीं! बारिश की बूँदें उनके बदन पर गोली के छर्रों की तरह लग रही थीं और वे चीख चिल्ला रहे थे। अंधड़ थम जाने के बाद-जब बारिश थोड़ी कम हुई तो गाँव से लोग लालटेन और चोरबत्ती लेकर निकले थे ढूँढने।"[1]

इसी प्रकार से अतीत की स्मृतियाँ 'बाग़बान' फिल्म में दोनों दंपति राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) और पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) के समय-समय पर मस्तिष्क में आती रहती हैं। यह स्मृति उन्हें वर्तमान से अतीत की ओर आकर्षित करती है। यह स्मृति चाहे आलोक के संबंध में हो या संजय मल्होत्रा (समीर सोनी) के घर डायनिंग टेबल पर नाश्ते के समय हो या विजय नगर रेलवे स्टेशन पर पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) और राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) के मिलने पर। यह स्मृतियाँ बार-बार उन्हें अपने सुखद क्षणों की अनुभूति करवाती है।

"राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- अरे! भूल गई क्या? वो क्या लिखा है?

पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी)- विजय नगर रेलवे स्टेशन...ओह्ह

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१२

राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) -यही तो वह शहर है, जहाँ हमने अपनी जिंदगी की शुरुआत की थी..."[1]

यह तो अटल सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को परलोक सिधारना है लेकिन यह भी सत्य है कि पति और पत्नी कभी एक साथ इस दुनिया से विदा नहीं लेते है। पति-पत्नी में से कोई एक इस दुनिया को पहले छोड़ के चला जाता है। दाम्पत्य जीवन में से किसी एक के संसार से चले जाने से वह व्यक्ति अपने आपको एकाकी महसूस करने लगता है। किसी व्यक्ति को अपने जीवन संगी सबसे अधिक आवश्यकता वृद्धावस्था में होती है। वृद्धावस्था में अपने भावों और विचारों को साझा करने के लिए पति-पत्नी ही एक दूसरे का सहारा बनते है। वृद्धावस्था में अपने शारीरिक परेशानी एवं बीमारी में एक दूसरे के सहायक, दुख-दर्द में सहानुभूति मुख्यतः अपने जीवन साथी से ही प्राप्त होती है। प्रायः समाज में देखा जाता है कि वृद्धावस्था में आकर हमारे साथी, मित्र और अनेकानेक चिर-परिचित जिनसे हम अपनी व्यक्तिगत बातें साझा कर लेते है वह इस दुनिया को छोड़कर जा चुके होते है। वृद्धावस्था में शारीरिक समस्याओं एवं अन्य समस्याओं के कारण उनसे मिलने नहीं जा पाते है। इस स्थिति में उनके सामने समस्या रहती है कि वह वृद्ध पुरुष या स्त्री अपने मन के भावनाओं और विचारों को किसके साथ साझा करें। ऐसे में वह अपनी बातों को अपने बच्चों के सामने नहीं रखेंगे, यह तो स्वाभाविक है कि लोग अपनी हमउम्र के साथ ही अधिकतर अपना उठना-बैठना करते है और उनके सामने अपने आपको बहुत ही सहजता से रख सकते हैं। अतः जीवन साथी का बिछड़ जाना उनके लिए एक अभिशाप से बन जाता हैं जिसके कारण उन्हें धीरे-धीरे अकेलेपन का बोध होना शुरू हो जाता है और यह एकाकीपन मनुष्य को मृत्यु की ओर ले जाता है।

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में रघुनाथ और शीला अपने जीवन के अंतिम समय में एकाकी जीवन व्यतीत करते है क्योकि रघुनाथ की पत्नी शीला अपने बहू सोनल के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती है और

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

सोनल के घर को छोड़ कर सरला के घर रहने के लिए चली जाती है। जिसके कारण परिस्थितिवश दोनों पति-पत्नी को एक दूसरे से अलग रहना पड़ता है। जब दोनों साथ रहते थे तो अपने मन की बातें एक-दूसरे से कह-सुन लिया करते थे। जब से उनकी पत्नी शीला गई है वह नितान्त अकेले हो गए हैं। अब उनकी बातों को न कोई सुनने वाला है और न कोई उनके कहीं जाने आने से रोकने टोकने है "अब न कोई रोकने वाला, न टोकने वाला। उन्होंने कहा-हे मन! चलो, लौट कर आए तो वाह वाह! न आए तो वाह वाह!"[1]

फिल्म कार रवि चोपड़ा ने 'बाग़बान' फिल्म में, वृद्धावस्था में एक-दूसरे से अलग हुए राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) और पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) के माध्यम से बुजुर्गों के एकाकीपन को दिखाने का प्रयास किया है। जब वे दोनों एक दूसरे से अलग हो जाते है तो वे अपने मन की बातों को किसी से कह नहीं पाते है। वे घर में रहकर अपनी बातों को बच्चों से कह नहीं पाते अगर कहने का प्रयास भी करते है तब भी उनके बच्चें उनकी बात को सुनना नहीं चाहते इसके विपरीत उन पर ही फब्तियाँ कसकर उनको आहत करते है। जिससे वह घर में रहकर मन ही मन घुटकर अपने एकाकी जीवन जीने के लिए विवश होते है। उनका एक-एक दिन पुरानी यादों का पिटारा खोलकर उनके सामने खड़ा होता है लेकिन उनकी यह यादें उनको दुख देने के अलावा कुछ नहीं दे पाती। वहीं जब हम वृद्ध महिला के एकाकीपन के विषय में चर्चा करते है तो अक्सर देखा जाता है कि वृद्ध महिला घर के काम-काज में अधिक लिप्त रहती है या अपने नाती-नातिन को खिलाने-पिलाने में उनका समय व्यतीत हो जाता है। जिससे उन्हें अपने अकेलेपन या एकाकीपन का आभास पुरुषों की अपेक्षा कम होता है लेकिन ऐसा कदापि नहीं है कि वह अकेलापन महसूस नहीं करती है। जिस प्रकार से फिल्म में राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) और उपन्यास में रघुनाथ को अपने बच्चों द्वारा की गई उपेक्षा से एकाकीपन जो अनुभव होता है, वही अनुभव पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) और शीला को जीवन के अंतिम दौर में होता है।

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१४

व्यक्ति के बचपन और युवावस्था में अनेक मित्र होते है। उम्र के इस चौथेपन में आते-आते सब एक-दूसरे का साथ छोड़कर चले जाते हैं। यहाँ तक की वृद्धावस्था में इन वृद्धजनों के बेटा-बेटी-बहू अपने माता-पिता को बेसहरा छोड़कर आर्थिक और भौतिक उन्नति की राह पर बिना परवाह करते हुए आगे बढ़ते चलते चले जाते है। वृद्धावस्था में वृद्धजन जितना अपनी अवस्था और अन्य समस्याओं से परेशान नहीं होते है उतना अपने परिजनों की उपेक्षा और बेरुखी से होते हैं। वृद्धावस्था में व्यक्ति अन्य दूसरों लोगों की उपेक्षा को एक सीमा तक सह लेता है लेकिन अपने बच्चें जो उनके अंश है, उनकी बेरुखी उन्हें जीते जी मार देती है। इस स्थिति में वृद्धजन अपने को अकेला और तनहा अनुभव करते हैं। वृद्धजनों का यह अकेलापन परिवार में उन्हें पराएपन का आभास कराता है।

उपन्यास में सोनल को शहर का परिवेश उसके मन को बार-बार आतंकित करता है कि इस नये अनजाने शहर में वह कैसे रहेगी? आए दिन उसकी कॉलोनी में कोई न कोई घटना घटित होती रहती है। वहीं दूसरी ओर पिता डॉ. सक्सेना और पति में से कोई भी साथ नहीं है जो उसके साथ रहे जिससे उसकी और घर, दोनों की देखभाल होती रहे। इन सभी प्रश्नों पर विचार करने के बाद सोनल अपने सास-ससुर को अपने पास बनारस रहने के लिए बुलाती है। उस स्थिति में रघुनाथ अपने को असंमजस की स्थिति में पाते है। जिस बहू ने शादी करने से पहले न अपने सास-ससुर की राय ली और न ही कभी शादी के बाद अमेरिका पहुँच कर हाल-चाल लेने का कभी प्रयास किया। उसे अचानक आज कैसे अपने सास-ससुर की चिंता, लोकलाज और मर्यादा का ख्याल होने लगा? रघुनाथ सोनल के घर जाते तो हैं लेकिन बार-बार उनके मन यह प्रश्न उठता है कि वहाँ किस हैसियत से जा रहे है? वह कौन है? जिससे उन्हें अपने परायपन का बोध होता है। "तुम समझती क्यों नहीं? सोनल बहू है लेकिन घर बहू का है, हमारा नहीं! किस हैसियत से जाऊँ मैं? मेहमान बन कर? किरायदार बन कर? किस हैसियत से?"[1]

---

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-९३

फिल्म में जिस प्रकार से उनके बेटे-बहू राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) और पत्नी पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) के साथ जो व्यवहार करते है उससे उन्हें अपने पराए होने का बोध करवाया जाता है। जब वे अपने बेटों के साथ रह रहे होते है तो उन दिनों राज मल्होत्रा और पूजा मल्होत्रा को कभी यह एहसास नहीं हुआ कि हम अपने बच्चों के साथ रह रहे है। वह जब भी अपने बच्चों से अपने बारे में बात करने की कोशिश करते हैं या करती हैं तो उस समय उनके बच्चें अपने ही माता-पिता से बात करने से बचते है और यदि करते भी है तो वह इस प्रकार से करते है जैसे वे अपने नहीं कोई पराए है। वृद्धावस्था में माता-पिता की उपेक्षा करना, उनको पराएपन का बोध करवाती है। फिल्म में ऐसे कई एक दृश्य है जैसे- माँ(हेमा मालिनी) के द्वारा अजय मल्होत्रा (अमन मल्होत्रा) से घर को संगठित रखने के संदर्भ में या रीना मल्होत्रा (दिव्या दत्ता) के द्वारा नाती राहुल मल्होत्रा (यश गावली) के पीटने के परिपेक्ष्य में या करवाचौथ के दिन पिता राज मल्होत्रा के लिए खाना न बनाना। ऐसे कई दृश्य है जिससे दर्शक पूजा मल्होत्रा और राज मल्होत्रा के पराएपन से परिचित होते है। "राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन)- क्या हुआ बहू ?

रीना मल्होत्रा (दिव्या दत्ता)- आप बीच में मत बोलिये! प्लीज आपकी वजह से पहले ही बिगड़ चुका है, अब झूठ बोलने लगा है, बेईमानी करने लगा है, आज आपके चश्में के लिए अपने जूतों के पैसे खर्च करके आया है कल आपकी किसी और जरुरत की वजह से घर का सामान बेंच देगा।"[1]

समय के साथ-साथ मनुष्य अपने जीवन में प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहता है। कहा जाता है कि परिवर्तन ही प्रकृति का नियम है। मनुष्य अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुरूप परिवर्तन करता है यही परिवर्तन वृद्धावस्था में वृद्धजनों के साथ होता है। वृद्धजन जब अपने जीवन के अंतिम दिनों को जी रहे होते हैं तब उन्हें किसी से कोई विशेष आकांक्षा या अभिलाषा नहीं होती है। एक तरह से वह अपने को दुनियादारी से मुक्त समझते है। उन्हें घर-परिवार की कोई चिंता नहीं रहती है। जीवन के शेष दिनों में रघुनाथ की भी मानसिकता

[1] संवाद (फिल्म बागवान से)

इसी प्रकार की हो जाती है। उन्हें अब किसी प्रकार की कोई चिंता नहीं है न बेटे की, न बेटी की और न पत्नी की। अब वह सांसारिक मोह-माया को भूलकर चिंता मुक्त हो गए है। काशीनाथ सिंह लिखतें हैं कि: "अब वे पूरी तरह से सुस्थिर चित्त थे। लेकिन कौन कहे "पूरी तरह? क्योंकि महीनों हो रहे थे और कहीं से कोई खबर नहीं-न मिर्ज़ापुर से, न नोएडा से, न अमेरिका से, न पहाड़पुर से। शायद इन सबको पता चल गया था कि रघुनाथ इन्हे हमेशा के लिए भूल चुके है; भूल ही नहीं चुके हैं, 'मरा मान चुके हैं। माया-मोह त्याग कर।"[1]

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत अंत में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार से मनुष्य ने आज प्रगति की है उससे समाज में अनेकानेक परिवर्तन परिलक्षित हो रहे है। समाज की बदली इन्हीं परिस्थितियों से वृद्धों के जीवन में दिन-प्रतिदिन परिवर्तन हो रहा है। वर्तमान समय में बदले हुए सामाजिक, पारिवारिक संबंधों, मूल्य दृष्टियों और जीवन शैली के दबाव के कारण समाज में वृद्धों की स्थिति अवांछनीय और अतिरिक्त जैसी बनी हुई है जिससे वह हाशिया कृत समुदाय जैसा जीवन जीने के लिए विवश है।

[1] रेहन पर रग्घू , पृ.-१६१

उपसंहार

साहित्य की सत्ता मूलतः अखंड और अविच्छेद सत्ता है। वह जीवन और जीवन से इतर सब को अपने दायरे की परिधि में समाहित करती है। इसलिए साहित्य को किसी सैद्धांतिकी में बाँधकर परिभाषित करना संभव नहीं है। साहित्य को पढ़ने और समझने के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हो सकते है जो हमारी अपनी जीवनदृष्टि और मूल्यदृष्टि पर आश्रित होते है। किसी भी रचना को पढ़ने और समझने की कई दृष्टियाँ होती है। साहित्य समाज को लोकमंगल की भावना से पथप्रदर्शक करने का कार्य करता है। चूँकि साहित्य एक सर्जनशील प्रक्रिया है जो समाज के बेहतर निर्माण के उद्देश्य से रचा जाता है जिसका प्रभाव समाज पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होता है। वर्तमान में समाज के समस्त रचनाकार वंचित समूहों के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए मानवता के पक्ष में अपना लेखन कार्य कर कर रहे हैं।

साहित्य और समाज का संबंध अभिन्न है। समाज के अभाव में साहित्य और साहित्य के अभाव में सिनेमा की कल्पना करना असम्भव है। साहित्य और सिनेमा कला के दो विविध रूप है जो समाज की अभिव्यक्ति के दो अलग-अलग सशक्त माध्यम है। रचनाकार अपने भावों और विचारों को लेखनबद्ध करके अपने पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है जबकि एक फिल्मकार फिल्म के कला पक्ष के साथ-साथ उसके तकनीकी पक्ष को ध्यान में रखकर फिल्म का निर्माण करता है। सिनेमा में समाज की समस्या, मनोरंजन, दर्शक की मांग और आर्थिक व्यवसाय को केंद्र में रखकर फिल्म बनाने का प्रयास किया जाता है। जबकि साहित्यकार अपनी रचना में व्यक्तिगत अनुभूति, संवेदना और समाज की समस्या का यथार्थ स्वरुप को दिखाने का प्रयास करता है। साहित्य और सिनेमा दो अलग-अलग माध्यम होने पर भी कई बिन्दुओं पर दोनों में समानता मिल जाती है। सिनेमा में भावों की अभिव्यक्ति और दृश्यों के निर्माण के लिए कल्पना का सहारा लेना पड़ता है जो शब्दों के द्वारा संभव नहीं है। वहीं साहित्यकार अपनी रचना में शब्दों के माध्यम से जिस वातावरण का निर्माण करता है उसे फिल्म में दिखाना फिल्मकार के लिए दुष्साध्य कार्य है। साहित्यकार अपनी रचना के लिए जिस कथावस्तु, वातावरण और परिवेश को चुनता है उसे प्रत्येक पाठक अपने कल्पना और बौद्धिक ज्ञान के अनुसार अलग-अलग रूप में ग्रहण करता है। जबकि फिल्म कार के द्वारा तैयार किए गए दृश्य, वातावरण और परिवेश

को प्रत्येक दर्शक एक ही भाव और विचार के रूप में ग्रहण करता है। फिल्म कार साहित्य से ग्रहण की गई सामग्री को फिल्म में ज्यों का त्यों फिल्मांतरण नहीं कर पाता है और पूर्ण रूप से रूपांतरण करना भी नहीं चाहता है। वहीं साहित्य, सिनेमा के ढाँचे में पूर्णरूप से व्यवस्थित नहीं हो पाता है और यहीं से साहित्य और सिनेमा के अंतःसंबंध में बिलगाव उत्पन्न हो जाता है। हालांकि सिनेमा ने अपनी शिशुत्व अवस्था में साहित्य को अपनी धात्री के रूप में अपनाकर प्राणतत्व प्राप्त कर लिया है परन्तु वर्तमान में सिनेमा शिशुत्व रूप से विकसित होकर वयस्क हो गया है। कहने का आशय है कि साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध होते हुए भी कुछ महत्वूर्ण बिंदुओं पर अपना-अपना स्वतंत्र पक्ष रखती है। सिनेमा का धरातल इतना विस्तृत है कि वह संसार की तमाम कलाओं को अपनी परिधि में समाहित किए हुए है।

हिंदी सिनेमा में परिवार पर आधारित फिल्म निर्माण की सुदीर्घ परंपरा रही है। भारतीय समाज में परिवार पर आधारित फिल्में लोकप्रिय रही है। जब समाज में ऐसी धारणा हो कि भूमंडलीकरण, बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद के वर्चस्व से व्यक्तिवाद हावी हो रहा है। उस स्थिति में व्यक्ति परिवार, समाज और राष्ट्र निर्माण पर केंद्रित होने के बजाय सिर्फ आत्मकेंद्रित होकर रह गया है। इस स्थिति में लोगों ने 'बाग़बान', 'अवतार', 'घर-द्वार', 'संसार' जैसी तमाम पारिवारिक फिल्मों को लोकप्रिय बनाया। पिछले कुछ दशकों में सबसे अधिक लोकप्रिय होने वाली फिल्मों का कथानक पारिवारिक संबंधों पर आधारित रहा है। परिवार से संबंध रखने वाली फिल्मों से स्पष्ट है कि ऐसी फिल्मों के केंद्र में माँ-बाप और उनके बच्चों के संबंधों को रूपायित करने का प्रयास किया है। पारिवारिक हिंदी फिल्मों की कथावस्तु प्रायः शहरी और ग्रामीण परिवेश के मध्यवर्गीय परिवार से सम्बंधित है। इस प्रकार की फिल्मों में हम आधुनिकता और परम्परावादी सोच से गुथी हुई माला एक साथ पाते हैं जिससे उनकी वास्तविक पहचान करना थोड़ा मुश्किल हो जाता है।

फिल्म 'बागबान' जिसका निर्देशन रवि चोपड़ा ने किया। इस फिल्म को ३ अक्तूबर, २००३ में भारतीय सिनेमा के परदे पर दिखाया गया। इस फिल्म में माता-पिता विविध प्रकार के कष्टों को झेलकर अपने बच्चों को पढ़ाते-लिखाते हैं लेकिन वही बच्चें जब आत्मनिर्भर हो जाते है तो वह अपने माता-पिता के कष्टों और

अपने नैतिक कर्तव्यों को भूल जाते है। फिल्म 'बागबान' में राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) बैंक अधिकारी के पद से सेवानिवृत होकर अपनी पत्नी पूजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) के साथ वृद्धावस्था में सुखमय जीवन व्यतीत करने का स्वप्न संजोते है कि जीवन के जो शेष दिन है वह अपने बच्चों के साथ व्यतीत करेंगे। जब उनके सभी बच्चों को आभास होता है कि उनके माता-पिता के पास आर्थिक रूप से देने को कुछ भी शेष नहीं है तो इस स्थिति में वह अपने माता-पिता को अपने साथ रखने में हिचकिचाते है। इसके अतिरिक्त वे उनके साथ अमानवीय, अवांछनीय और उपेक्षापूर्ण व्यवहार करते है जिससे उन्हें मानसिक रूप से आघात पहुँचता है। फिल्म से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वर्तमान समय में मानवीय रिश्तें अर्थ पर केंद्रित होकर स्वाहा हो गए है। परिवार के भीतर माता-पिता का अप्रासंगिक, अपदस्थ होना बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद का परिचायक है जिसमें पारिवारिक मूल्यों, दायित्वों और कर्तव्यों का क्षरण हो गया है।

समकालीन भारतीय समाज उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के दौर से गुज़र रहा है जिससे समाज को जटिल समस्याओं का सामना करने पर विवश होना पड़ रहा है। इस प्रकार की समस्याओं ने भारतीय परिवेश और संस्कृति को पूर्णत परिवर्तित कर बाज़ारवादी संस्कृति में तब्दील कर दिया है। इसने हमारे बुद्धि और विवेक को प्रभावित करके सामाजिक और नैतिक मूल्य का क्षरण किया है। समकालीन हिंदी कथा साहित्य भारतीय समाज में पनप रहे इन्हीं अर्थ केंद्रित मानवीय संबंधों के यथार्थ को अभिव्यक्त करता है। 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास काशीनाथ सिंह का महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास का प्रकाशन २००८ में हुआ एवं उपन्यास को २०११ में साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। इस उपन्यास में काशीनाथ सिंह ने समाज के दोनों पक्षों को दिखाने का प्रयास किया है। जहाँ एक ओर स्वतंत्र जीवन के बारे में वहीं दूसरी ओर अकेलापन, निराशा, कुंठा, घुटन, व्यर्थताबोझ जैसी भावनाओं का स्पष्ट चित्रण किया है।

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास की कथा पारवारिक संबंधों की कथा है जिसमें परिवार के लोगों के बीच संबंध नई सोच और परम्परागत विचारधारा के टकराहट से बदल गए है। कथानायक वृद्ध रघुनाथ के अपने पुत्रों से एक तरफा संबंध है। रघुनाथ अपने बच्चों की जरुरत और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते है, वहीं उनके

बेटे संजय और धनंजय को अपने वृद्ध माता-पिता की कोई परवाह नहीं है। शीला और सरला माँ-बेटी अवश्य है किन्तु दोनों में आत्मीय संबंध का अभाव है। रघुनाथ अपनी पुत्रवधू सोनल के साथ अपनी तरफ से संबंधों को बेहतर बनाने की कोशिश करते हैं। शीला और सोनल के संबंध परंपरागत सास और आधुनिक बहू के है जिससे स्पष्ट है कि आधुनिकरण, बाज़ारवाद और भूमंडलीकरण की आंधी से पारिवारिक संबंधो में तीव्र गति से परिवर्तन हुआ है जिसमें वृद्धजन सिमटकर घर के एक कोने में बेकार अनुपयोगी वस्तु बनकर रह गए जो केवल हमारे जीवन को ही प्रभावित नहीं करते है अपितु सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारण बनकर उभरते हैं।

आज नगरीकरण से महानगरीकरण की समस्या बढ़ती जा रही है। ऐसे समय में लोगों के समक्ष अनेक प्रकार की आर्थिक समस्याए उभरकर सामने आ रही है। रघुनाथ अपने बेटे-बेटी की पढाई के लिए अपनी जमींन गिरवी रख देते है लेकिन उनके बच्चें बुढ़ापे में उनकी इज्जत, मान-मर्यादा, संस्कार, नैतिकता सब कुछ गिरवी रख कर उन्हें कंगाल बना देते है। इसकी पीड़ा रघुनाथ के अंतर्मन में अंत समय तक बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार ने स्पष्ट किया है कि जमींन व संपत्ति के विवादों को लेकर रिश्तेदार व भाई-भतीजों से संबंध नहीं रहते है। वे वृद्धावस्था में अपने वृद्ध माता-पिता, चाचा इत्यादि की जमींन हड़पने की पूरी कोशिश करते हैं। यहाँ तक कि अपने आर्थिक स्वार्थों के लिए अपने वृद्धजनों को मारने-पीटने और हत्या करने तक नहीं चूकते है।

भारतीय समाज में सयुंक्त परिवार की अपनी अलग ही महत्ता रही है लेकिन ९० के दशक में भूमंडलीकरण, उपयोगितावाद, भौतिकतावाद और बाज़ारवाद के कारण सयुंक्त परिवार की परंपरा टूटकर एकल परिवार में परिवर्तित हो गई जिससे परिवार में बड़े-बुजुर्गों की उपेक्षा बढ़ने लगी। उपन्यास में वृद्ध रघुनाथ को हम इन्हीं परिस्थितियों से घिरा हुआ देखते है। बुढ़ापे में रघुनाथ का एक भी बेटा-बेटी उनसे फोन करके उनका हाल-चाल पूछने तक की जररूत नहीं समझते है। बहू सोनल और शीला में सामंजस्य न होने के कारण शीला सोनल के घर को छोड़कर सरला के पास रहने के लिए चली जाती है जिससे रघुनाथ वृद्धावस्था में अपने

को और अधिक अकेला अनुभव करते है। इस समस्या को केवल रघुनाथ ही नहीं अपितु शीला ने भी महसूस किया है। वृद्धावस्था में एक मात्र पति-पत्नी ही होते हैं जिससे वह अपनी सभी समस्याओं को परस्पर साझा कर सकते है। वृद्धावस्था में रघुनाथ और उनकी पत्नी दोनों वृद्धजन अकेलेपन, चिंता, संत्रास, अवसाद, असुरक्षाबोध आदि तरह-तरह की मानसिक व्याधियों से ग्रस्त है। इसके अतिरिक्त बुढ़ापे में रघुनाथ और शीला प्रतिरोधक शक्ति के कम होने के कारण समय-समय शारीरिक रूप से परेशान रहते है। जो वृद्धावस्था में वृद्धजनों के सत्य को उद्घघाटित करती है।

उपरोक्त विवेचन के उपरांत निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आज के इस भौतिकतावाद, भूमंडलीकरण और उपयोगितावाद की चकाचौंध में वृद्धों की जो अवहेलना हो रही है। उससे भावी पीढ़ी अपने लिए पतन का मार्ग प्रशस्त कर रही है। आज संस्कारों एवं मूल्यों में जो कुंठा, घुटन, निराशा आदि देखने को मिल रही है, वह उस युवा पीढ़ी की अंधमूढ़ता का प्रमाण है जिसमें वह स्वार्थी होकर अपनी जिंदगी में मस्त रहता है। उन्हें कभी इस बात का एहसास नहीं होता है कि वृद्धजन ही सही मायने में हमारे परिवार और समाज की रीढ़ है। अगर समाज की रीढ़ ही खोखली हो जाएगी तो समाज का दशा और दिशा क्या होगा? जो किसी परिवार, समाज और देश के लिए हितकारी नहीं है। सरकार चाहे इन वृद्धजनों के लिए पेंशन की व्यवस्था करे या वृद्धाश्रम का निर्माण या कोई अन्य सहयोग करें उससे इन वृद्धजनों का कुछ भी हित नहीं सध सकता है। वे कभी भी अपने घोसलें रूपी आशियाने से अपमानित होकर होकर खुश नहीं रह सकते हैं। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ नैतिक मूल्यों को हमें अपने बच्चों के जीवन में समाविष्ट करने आवश्यकता है। तब हम सही मायने में एक नए भारत का निर्माण करने में सक्षम हो सकते हैं। अगर हम अपने वृद्धों को सम्मान, आदर करेंगे तो वह दिन दूर नहीं जिस दिन हम पुनः विश्व गुरु के रूप में याद किए जाएँगे और यह शुभकार्य हमारे वृद्धजनों के द्वारा दिए गए आशीर्वाद से ही संभव हो सकता है।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

आधार ग्रन्थ

१. सिंह, काशीनाथ : रेहन पर रग्घू,राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण २०१०

२. चोपड़ा, रवि (निर्देशक) : बाग़बान, ३ अक्तूबर, २००३

सहायक ग्रंथ

१. सिमोन द बउआ : वृद्धावस्था विमर्श (अनु० चन्द्रमोलेश्वर प्रसाद, संपा. ऋषभदेव शर्मा),परिलेख प्रकाशन, नजीबाबाद, प्रथम संस्करण-२०१६

२. विमला लाल: वृद्धावस्था का सच,कल्याणी शिक्षा परिषद्,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण-२०१९

३. डॉ. कुमुद सिंह: वृद्ध महिलाओं का समाजशास्त्र, उत्कर्ष पुब्लिकेशंन,कानपुर(उत्तर प्रदेश),प्रथम संस्करण-२०१८

४. डॉ.श्रीमती कीर्ति: अनुसूचित जाति के वृद्ध महिलाओं एवं पुरुषों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, रोशनी पब्लिकेशन, कानपुर (उत्तर प्रदेश), प्रथम संस्करण-२०१७

५. शिवचंद सिंह (संपा.): साहित्येहास में वृद्ध विमर्श, दिशा इंटरनेशनल पब्लिकेशन, ग्रेटर नॉएडा, २०१७

६. डॉ.शिव कुमार राजौरिया: वृद्धावस्था और हिंदी कहानी, अद्धैत प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१७

७. मैनेजर पाण्डेय: साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण-२०१६

८. डॉ. दिलीप मेहरा (संपा): हिंदी कथा साहित्य में वृद्ध विमर्श, उत्कर्ष पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर(उत्तर प्रदेश), प्रथम संस्करण-२०२१

९. डॉ.एस.वाय.होनगेकर, डॉ. आरिफ महात (संपा): २१वीं शती का हिंदी साहित्य नव विमर्श, ए.बी.एस. पब्लिकेशन, वाराणसी (उत्तर प्रदेश), प्रथम संस्करण-२०१८

१०. भावना सरोहा: कथा साहित्य, सिनेमा और वृद्ध जीवन, कल्पना प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१८

११. जवरीमल्ल पारख: हिंदी सिनेमा में बदलते यथार्थ की अभिव्यक्ति, नयी किताब प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०२१

१२. विजय शर्मा: विश्व सिनेमा:कुछ अनमोल रत्न, अनुज्ञा प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१७

१३. प्रसून सिन्हा: भारतीय सिनेमा, श्री नटराजन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२००६

१४. मुकेश कुमार कांजिया (संपा): साहित्य और समाज, हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१६

१५. नन्द दुलारे वाजपेयी: नया साहित्य:नए प्रश्न:निकष, वाराणसी विद्यामंदिर, वाराणसी (उत्तर प्रदेश), प्रथम संस्करण-१९५५

१६. चंद्रकांत मिसाल: सिनेमा और साहित्य का अंतसंबंध, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उत्तर प्रदेश), प्रथम संस्करण-२०१४

१७.विनोद दास: भारतीय सिनेमा का अंतकरण, मेधा बुक्स पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१५

१८. असगर वजाहत: पठकथा लेखन व्यवहारिक निर्देशिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१५

१९. विजय अग्रवाल: सिनेमा और समाज, साहित्य प्रकाशन, आगरा (उत्तर प्रदेश), प्रथम संस्करण-१९९३

२०. डॉ. सुरभि विप्लव: सिनेमा के विविध संदर्भ, अनुज्ञा प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०२०

२१.पंकज शर्मा(संपा.): हिन्दी सिनेमा की यात्रा, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१५

२२.विपिन कुमार 'अनहद': नयी सदी का सिनेमा, अनुज्ञा प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१८

२३. डॉ. अनिरुद्ध कुमार सुधांशु, डॉ.अनुज कुमार तरुण: हिंदी सिनेमा एक अध्ययन, श्री नटराजन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१६

२४. महेंद्र प्रजापति: प्रतिरोध और सिनेमा, नयी किताब प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०२१

२५. शरद दत्त: भुलाए न बने, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१७

२६. कामेश्वर प्रसाद सिंह (संपा): कथा शिखर : काशीनाथ सिंह, कौटिल्य पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०२१

२७. कामेश्वरप्रसाद सिंह: चौपाल में रेहन पर रग्घू, अरु पब्लिकेशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१४

२८. मनीष दुबे (संपा): कासी पर कहन, मीरा पब्लिकेशन, इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश), प्रथम संस्करण-२०००

२९. रमेश जगताप: काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर (उत्तर प्रदेश), प्रथम संस्करण-२००५

३०. गोपाल राय : हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२००५

३१. वीरेंद्र यादव: उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१७

३२. मधु सिंह: आठवें दशक की कहानी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-१९९३

३३.डॉ. योगेश देसाई: गरीबीली गरीबी के कथाकार काशीनाथ सिंह, विकास प्रकाशन, कानपुर (उत्तर प्रदेश), प्रथम संस्करण-२०१२

३४. डॉ. रामचंद्र तिवारी: हिंदी गद्य का विकास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण-२००७

३५. मृत्युंजय (संपा.): हिंदी सिनेमा का सच, कलकत्ता समकालीन सर्जन, कलकत्ता, प्रथम संस्करण-१९९५

कोश

१. डॉ. अमरनाथ : हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली,राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण-२०१२

२.डॉ. धीरेन्द्र वर्मा : हिंदी शब्दकोश,ज्ञानमण्डल लिमिटेड,वाराणसी(उत्तरप्रदेश),संस्करण २००५

पत्र-पत्रिकाएँ

१. संपा. प्रभाकर श्रोत्रिय : वागर्थ, दिसम्बर १९९९

२. संपा. अखिलेश : तद्भव, जनवरी २००४

३. संपा. डॉ. कामेश्वर प्रसाद सिंह : चौपाल, जनवरी २०१४

४. संपा. डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ : अनुसन्धान, अप्रैल २०२१

५. संपा. डॉ.एम. फिरोज़ अहमद : वाङ्ग्मय, मार्च २०२२

६. संपा. डॉ.आलोक रंजन पाण्डेय : सहचर-ई पत्रिका, जनवरी २०२०

७. संपा. संजय गुप्त : दैनिक जागरण (राष्ट्रीय संस्करण), नई दिल्ली, ११ जून २०१७

वेबलिंक

१. www.egyankosh.ac.in

२. https://www.google.com/amp/s/amp.bharatdiscovery.org/india

३. https://hi.m.wikipedia.org/wiki/

४. http://aryamantavya.in/manusmriti/2-96/

५. https://www.wikiwand.com/hi/

परिशिष्ट

किसी भी साहित्यकार और उसके साहित्य को जानने, समझने और मूल्यांकन करने के लिए उस साहित्यकार के व्यक्तित्व को जानना परम आवश्यक हो जाता है क्योंकि साहित्यकार के साहित्य का अध्ययन और मूल्यांकन करते हुए उसके व्यक्तित्व की झलक स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। हिंदी के वरिष्ठ साहित्यकार काशीनाथ सिंह के साहित्य में यह तथ्य पूर्णतः परिलक्षित होता है।

अ. जीवन परिचय

काशीनाथ सिंह का जन्म वाराणसी शहर से तीस-चालीस मील दूर पूर्व दिशा में जीयनपुर नामक गाँव १ जनवरी १९३७ में एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री नागर सिंह एवं माँ का नाम श्रीमती वागेश्वरी देवी था। आपके पिता श्री नागर सिंह प्राथमिक विद्यालय में अध्यापक थे। इनके पिता जी के दो अन्य भाई थे बड़े सागर और छोटे बाबू नंदन। बाबू नन्दन के एक, सागर और नागर सिंह के तीन-तीन बेटें थे। काशीनाथ सिंह अपने भाईयों में सबसे छोटे है बड़े नामवर सिंह और मझले भाई रामजी सिंह है।

काशीनाथ सिंह की प्राथमिक शिक्षा आवाजापुर से हुई एवं हाईस्कूल की परीक्षा सन् १९५३ में दानापुर केंद्र से प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की। काशीनाथ सिंह ने जिस वर्ष हाईस्कूल में थे, उसी वर्ष उनके परिवार का बँटवारा हो गया। जिसके उपरांत काशीनाथ सिंह अपने भाई नामवर सिंह के साथ अध्ययन करने के लिए १९५३ में बनारस चले गए। काशीनाथ सिंह के मझले भाई ने खेती का कार्यभार अपने ऊपर लेकर काशीनाथ सिंह को बनारस पढ़ने के लिए भेजा। इस विषय में रामजी सिंह ने कहा है: ‘‘ऐसा है भैया कि आप कशी को ले

जाइये। यह पढ़ने में तेज भी है और इतना सब इसके वश का भी नहीं। मै तो प्राइवेट में भी बी.ए कर सकता हूँ।”[1]

पहले पहल काशीनाथ सिंह अपने बड़े भाई नामवर सिंह के साथ सरस्वती प्रेस की पहेली मंजिल पर रहते हैं। काशीनाथ सिंह ने सन् १९५५ में कमच्छा स्थित पी.यू.सी से इंटरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की। इन दिनों काशीनाथ सिंह अपने बड़े भाई नामवर सिंह और माँ के साथ सतह लोलार्क कुण्ड भदैनी मुहल्ले में किराए के नए मकान में रहने लगे थे। इस संदर्भ में स्वयं काशीनाथ सिंह ने लिखा है: “इसी कोठरी में मैंने हिंदी के अधिकांश बड़े छोटे लेखकों को देखा। ‘रेणु’ को पहेली और अंतिम बार यही देखा था।”[2]

वर्ष १९५५ में इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् काशीनाथ सिंह ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बी. ए में दाखिला लिया। उसके बाद सन् १९५७ में एम. ए (हिंदी) में प्रवेश लिया तथा प्रथम श्रेणी से परीक्षा उत्तीर्ण की। वर्ष १९५९ में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शोध निर्देशन में ‘हिंदी में सयुंक्त क्रियाएँ’ विषय पर शोध कार्य के लिए पंजीकृत हुए। सन् १९६० ई. बनारस विश्वविद्यालय से हजारी प्रसाद द्विवेदी के निष्कासन के बाद काशीनाथ सिंह पुनः पंडिता करुणापति त्रिपाठी के निर्देशन में पंजीकरण कराया। काशीनाथ सिंह का विवाह मिर्ज़ापुर, राबर्ट्सगंज में शमशेर बहादुर सिंह की पुत्री सुश्री कुसुम सिंह के साथ २३ मई १९६२ ई. को हुआ। काशीनाथ सिंह ने सन् १९६३ में अपना शोधकार्य पूर्ण किया। सन् १९६२-६४ तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अंतर्गत ‘हिंदी भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण’ कार्यालय में शोध सहायक के रूप में नियुक्त हुए। काशीनाथ सिंह सन् १९६५ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक के रूप नियुक्त हुए। सन् १९७५ नागपुर में ‘प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन’ के विरोध में काशीनाथ सिंह ने नागपुर के लॉ कॉलेज के सामने समानान्तर सम्मेलन के आयोजन के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

[1] तद्भव, पृ.-१४१

[2] वहीं , पृ.-१४२

जिसके लिए उन्हें तीन दिन पुलिस निगरानी में जेल में बंद रखा गया। सन् १९८३ में काशीनाथ सिंह इंदिरा कला संस्कृति विश्वविद्यालय, खैरागढ़ में विजिटिंग फेलो हुए।

काशीनाथ सिंह दिसम्बर १९९१ ई. में हिंदी विभाग के अध्यक्ष चुने गए। उन्होंने अपने दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह करते हुए ३१ दिसम्बर १९९६ ई. को अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया तथा मार्च १९९८ में गोवा विश्वविद्यालय में विजिटिंग फेल्लो के रूप में अपनी सेवायें प्रदान की।

रचना-यात्रा

कहानी संग्रह

१. लोग बिस्तरों पर (१९६८): अभिव्यक्ति प्रकाशन, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद।

२. सुबह का डर (१९७५): रचना प्रकाशन, खुल्दाबाद, इलाहाबाद।

३. आदमीनामा (१९७८): प्रकाशन संस्थान, ४७१५/२१ दयान्द मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-२

४. नयी तारीख (१९७८): राजकमल प्रकाशन-१-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

५. कल की फटेहाल कहानियाँ (१९८०): प्रतिमान प्रकाशन, शाहजहाँपुर, इलाहाबाद।

६. प्रतिनिधि कहानियाँ (पेपरबैक १९८४): राजकमल प्रकाशन-1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

७. सदी के सबसे बड़ा आदमी (१९८६): राजकमल प्रकाशन-1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

८. दस प्रतिनिधि कहानियाँ (१९९४): किताब घर, २४ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

९. कहानी उपखान (समग्र कहानियाँ) (२००३): राजकमल प्रकाशन-१-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

१०. संकलित कहानियों (२००८): नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, एन-५ ग्रीन पार्क, नई दिल्ली

११. कविता की नई तारीख (२०१०): हार्पर कॉलिंस हिन्दी, नई दिल्ली

१२. मेरी प्रिय कहानियाँ (२०११): राजपाल एंड संस, दिल्ली

१३. खरोच (२०१४): साहित्य भंडार, इलाहाबाद

उपन्यास

१.अपना मोर्चा (१९७२): रचना प्रकाशन, खुल्दाबाद, इलाहाबाद फिर संभावना प्रकाशन, हापुड़ और राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से पेपर बैंक संस्करण १९८५ में और सजिल्द संस्करण २००७ में

२. काशी का अस्सी (२००२): राजकमल प्रकाशन--१-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

३.रेहन पर रग्घू (२००८): राजकमल प्रकाशन-१-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

४. महुआ चरित्र (२०१२): राजकमल प्रकाशन-१-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

५. उपसंहार (२०१४): राजकमल प्रकाशन-१-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

संस्मरण

१. याद हो कि याद हो (१९९२): राजकमल प्रकाशन,१-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली- २

२. आछे दिन पाछे गए (२००४): वाणी प्रकाशन,२१-ए, दरियागंज नई दिल्ली-२

३. घर का जोगी जोगड़ा (२००७): राजमकल प्रकाशन, १-बी. नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

नाटक

१. घोआस (१९८२): प्रारूप प्रकाशन, 64 चौक गंगदास, इलाहाबाद। (अप्राप्य) यह नाटक १९६९-७० के ययुत्सा, कलकत्ता में छप चुका था।

साक्षात्कार

१. गपोड़ी से गपशप (२०१३) : संपादक-पल्लव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-२

शोध/समीक्षा

१. हिन्दी संयुक्त क्रियाएँ (१९७६): रचना प्रकाशन, इलाहाबाद।

२. आलोचना भी रचना है (१९९६) : किताबघर, २४ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२

३. लेखक की छेड़छाड़ (२०१३) : किताबघर, १-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-२

संपादन

१. परिवेश (अनियतकालीन पत्रिका १९७१-७६) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित।

२. काशी के नाम (नामवर सिंह के पत्रों का संचयन/ संपादन-२००७) : राजकमल प्रकाशन, १-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२

सम्मान –पुरस्कार

२००१, शरद जोशी सम्मान, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश

२००३, साहित्य भूषण सम्मान, उत्तरप्रदेश

२००४, कथा सम्मान, दिल्ली

२०१०, राजभाषा पुरस्कार, बिहार

२०११, साहित्य अकादमी पुरस्कार, दिल्ली

२०१२, सर्जन सम्मान, आसनसोल

२०१३, रचना समग्र पुरस्कार, भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता

२०१३, रचना स्मृति सम्मान, मीरा फाउंडेशन भंडार, इलाहाबाद।